UNIVERSAL LIBRARY
OU_178407
UNIVERSAL LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H87 G97T   Accession No. H221

Author गुलाबराय.

Title ठलुआ क्लब. 1952.

This book should be returned on or before the date last marked b

साहित्य-सुमन-माला पुष्प—३

ठलुआ-क्लब

लेखक—

हिंदी-साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक व रचयिता

श्रीगुलाबराय

एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

संपादक

श्रीप्रेमचंद

(राजा) रामकुमार-प्रेस, बुकडिपो

उत्तराधिकारी—नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो

लखनऊ

द्वितीय संस्करण] [सन् १९४२

मुद्रक
श्रीबिपिनबिहारी कपूर
सुपरिंटेंडेंट
(राजा) रामकुमार-प्रेस, लखनऊ.

जटिल समस्याओं को जितनी विनोद-पूर्ण शैली में आलोचना की है, वह पढ़ने ही योग्य है। प्रत्येक व्याख्यान एक ठलुए की आत्म-कथा है। इन ठलुओं की कहानी पढ़कर विनोद के साथ ही, आपमें एक जीवन का संचार होगा और आप अपनी दशा को सुधारने के लिये व्यग्र हो जाएँगे। यह ऐसा सोना है, जिसमें सुगंध भी भरा हुआ है। हम इसे बड़े हर्ष से पाठकों को भेंट करते हैं।

भवदीय

प्रेमचंद

समर्पण

जिसके प्रगाढ़ प्रेमालिंगन ने मेरे सब कायिक-
मानसिक दुःखों को क्षण में भुलाया
जिसके सुख स्पर्श ने मेरी प्रतिभा-कुमुदिनी को
नयनाभिराम राकेशवत् खिलाया
जिसके नित्य निरंतर मधुर मौग्ध् प्रेम प्रमोद ने किसी
के कोमल हृदय को ईर्षाग्नि में नहीं जलाया
जिसके अनुपम सहनशील स्वभाव ने अपनी
अतुल क्षमा द्वारा सबका मन लुभाया
जिसके सौहार्द्र भाव ने मेरे जीवन के गूढ़ातिगूढ़
रहस्यों को मूकता के आवरण में छिपाया
जिसके नेत्र निमीलनकारी प्रेम-मद ने मुझे
सुख और शांति की गाढ़ निद्रा में सुलाया
उसी
भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की एकमात्र
आश्रयदात्री मेरे सुख-दुःख की चिरसंगिनी
परम प्रेयसी
शय्या
को
सादर सस्नेह समर्पित
अनुरक्त एवं अनुगृहीत लेखक

बचना एक घंटे से अधिक शय्या-सेवन सुख से कम नहीं है। भूमिका लिखने का कष्ट तो अवतरण देकर बच गया, किंतु पुस्तक लिखने के कष्ट से न बच सका। इसके लिये मैं हथेरुवा (ज़िला कानपुर)-निवासी, स्थानीय साहित्य-सेवा-सदन के संचालक पं० रामनारायणजी द्विवेदी की असज्जनता का प्रकाशन किए विना नहीं रह सकता, क्योंकि उक्त महाशय की आलस्य के परम शत्रु प्रोत्साहन से बड़ी घनिष्ठता है। यदि वह महाशय अपनी क्रूरता से काम न लेते, तो यह 'ठलुआ-क्लब' के कारनामे मेरे स्मृति-पटल से बाहर न जा पाते। इसलिये यदि मैं नहीं, तो इस ग्रंथ के पाठक उक्त महाशय के अवश्य अनुगृहीत होंगे। इस ग्रंथ को अपने सहृदय पाठकों के हाथ में देते हुए मुझे एक आशा अवश्य है कि यदि यह पुस्तक उनका मनोविनोद करने में असमर्थ रही, तो वह मेरी अनधिकार चेष्टा पर हँसकर थोड़ी देर के लिये अपने ऊपर से सांसारिक चिंताओं का भार हलका कर सकेंगे और मेरे उद्देश्य की सफलता हो जावेगी। उभय विधि मेरा ही लाभ है। इसके लिये उदार पाठकगण मुझसे मात्सर्य भाव न रक्खेंगे।

छतरपुर-राज्य
कार्त्तिक कृष्णा अमावास्या
सं० १९८५

गुलाबराय

विषय-सूची

१.	मधुमेही लेखक की आत्म-कथा	१
२.	बेकार वकील	२१
३.	विज्ञापनयुग का सफल नवयुवक	३७
४.	निराश कर्मचारी	५१
५.	समालोचक	६७
६.	प्रेमी-वैज्ञानिक	८१
७.	सिद्धांती	९७
८.	आलस्य भक्त	११३
९.	आफ़त का मारा दार्शनिक	१२७

मधुमेही लेखक
की
आत्म-कथा

——:०:——

भला हो इन कमबख्त संपादकों का, जिन्होंने बढ़ावे दे-देकर मेरी लेखनी का कचूमर निकाल लिया। जितना कालेज में पढ़ा था, उस्तादों से सुना था और अँगरेज़ी अख़बारों से चुराया था, सब दो-चार चमत्कार-पूर्ण लेखों में ख़र्च हो गया। अभाग्य-वश बहुत यत्न करने पर भी कालेज में अध्यापकी न मिल सकी, जो नए विचारों के संपर्क में रखती। "भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।" भाग्य भी बेचारा क्या करे, जब व्यावहारिक सिद्धांत के विरुद्ध काम किया जाय।

भूल यह की थी कि जिस कालेज में पढ़ा था, उसी में अध्यापक बनना चाहा, किंतु गाँव का जोगी कब पुजता है।

अस्तु, जिस प्रकार बदसूरत लड़कियाँ भी बिना ब्याही नहीं रहतीं, उसी प्रकार मुझे भी जैसे-तैसे नौकरी मिल गई । इधर तो नौकरी के काम की भरमार, उधर संपादकों की विकट पुकार । इसके साथ-साथ थोड़ी यशोलिप्सा भी थी कि यदि नौकरी द्वारा आदर-सम्मान न मिला, तो ख़ैर, लेखनी ही द्वारा यश के भाजन बन जायँ । शायद कभी मंगलाप्रसाद-पुरस्कार ही हाथ लग जाय । इसी लालच से अविकल परिश्रम करना शुरू कर दिया । चार दिन पढ़ूँ, और एक दिन लिखूँ ।

चोरी छिपाने के लिये भी बड़ा कौशल चाहिए, विशेष करके आजकल के साहित्य-संसार में, जब कि समालोचक-कीट लेखक के हृदय के अंतस्तल में प्रवेश करके उसकी अनजान में भी की हुई चोरी का पता लगा लेते हैं । कहाँ रंगभूमि और कहाँ वेनटी फ़ेयर !

महात्मा केशवदासजी के मत से श्रीरामचन्द्रजी के राज्य में सुवर्ण की चोरी लोप हो गई थी, वर्णों (अक्षरों) की चोरी बच रही थी; किंतु आजकल वर्णों की चोरी भी बहुत कठिन हो गई है । इस कारण सुलेखक बनने के लिये घोर परिश्रम करना पड़ा । यदि धन और यश का उपार्जन साथ-ही-साथ होता जाता, तो शरीर उस परिश्रम को सहन कर लेता; किंतु इधर दिन में नौकरी का नाच नाचना और उधर रात्रि को ग्रंथावलोकन में आँखों और मस्तिष्क को ख़राब करना । इस डबल परिश्रम के कारण शरीर की शक्तियों ने जवाब दे दिया,

और रोगों ने शरीर में अड्डा जमा लिया। डाक्टरों ने मूत्र-परीक्षा का परामर्श दिया। परीक्षा कर मेरे शरीर को शरकरा का कारखाना बना दिया। अब क्या था, मैं डाक्टरों के शासन में आ गया। डाक्टर के वाक्यों को वेद के विधि-वाक्यों की भाँति विना अक़्ल का दख़ल दिए मानने लगा।

मेरा उदर रसायन-शास्त्र का प्रयोग-भवन मान लिया गया। काँटे की तौल तुले हुए पदार्थ मुझे खाने को मिलने लगे। मेरे रसोइया महाराज डाक्टर साहब के छोटे भाई बन बैठे।

कभी-कभी मेरे अधिक भोजन माँगने पर जब रसोइया महाराज नाक सिकोड़ने लगते, तो मुझे क्रोध आ जाता, किंतु गिरिधर कविराय की कुंडलियों का स्मरण हो आता, और उनका नाम तरह दिए जानेवाले तेरह सज्जनों की नामावली में देख क्षमा करना पड़ता। शक्कर तो मेरे घर से ऐसी उड़ी, जैसे दरिद्र के घर से चूहे। यदि दुर्भाग्य से कभी बुख़ार आ जाता, तो डाक्टर महोदय की कृपा से शक्कर में पगी हुई कुनैन की गोली भी नसीब न होती। लेमोनेड और लाइमजूस तो दूर रहा, मीठा मिक्सचर भी न मिलता।

आजकल वैसे ही कलियुग में धर्म-कर्म विदा हो गए हैं, कभी-कभी गुरुजनों की प्रेरणा से सत्यनारायण की कथा होती है, तो फीकी पँजीरी से भोग लगाया जाता है; क्योंकि प्रसाद न लिया जाय, तो देवता की अवज्ञा होती है, और पुण्य के बदले पाप मिलता है। यह गौरव तो पूर्वकाल के ब्राह्मणों को

ही प्राप्त था कि अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते हुए भी मधुरप्रिय बने रहते थे। इस शरकरा के संन्यास से और तो कुछ फल नहीं निकला, शायद उसका भाव कुछ मद्दा हो जाय, और श्रमजीवी लोग जो हमसे उसका अच्छा उपयोग कर सकते हैं, उसे सुभीते के साथ खा सकें।

अस्तु, डाक्टर महोदय का संतोष यदि शरकरा के संन्यास से ही हो जाता, तो भी मैं अपने को भाग्यवान् समझता; किंतु डाक्टरों के चंगुल में आकर उससे निकलना कठिन है। शरकरा के संन्यास के साथ वे पुस्तकों का भी संन्यास कराना चाहते हैं।

शारीरिक और मानसिक खाद्य दोनों ही के साथ अपना पूर्ण शत्रुत्व निभाते हैं। मूर्ख जीवन व्यतीत करने के लिये उपदेश देते हैं। बात यह है कि डाक्टरों का दिल मुर्दे चीरते-चीरते मुर्दा हो जाता है, उन्हें साहित्य और संगीत से क्या काम?

रोगी को भी अपना-सा "निरक्षर-भट्टाचार्य" बनाकर छोड़ते हैं। खैर, क्या किया जाय, जीवन-निर्वाह तो किसी प्रकार करना ही है। यदि उनका कहना नहीं करते, तो पत्नी के वैधव्य का भय दिखलाया जाता है। अपना जीवन तो स्वाहा कर देना कोई कठिन बात नहीं, पर पत्नी के अकाल वैधव्य और बच्चों के अनाथत्व का विचार भी तो करना ही पड़ता है।

इस भय से डाक्टरों के वाक्यों को भी पाँचवाँ वेद मानना

पड़ता है। जैसे-तैसे मूर्ख बनकर क्या करूँ? क्या घास काटूँ? मैंने सोचा कुछ ऐसा करूँ कि डाक्टर का वचन भी पूरा हो जाय, और कुछ साहित्य-संगीत भी चलता जाय; क्योंकि साहित्य को तिलांजलि देना डारविन के विकास का क्रम पलटना है। कहा है—

"साहित्यसंगीतकलाविहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः"

ऐसा सोचकर मैंने मूर्खता-मंजरी नाम का एक छोटा-सा ग्रंथ लिखना आरंभ कर दिया। उसके कुछ उदाहरण आप लोगों को सुनाता हूँ—

अक़्ल—जो अपने सिवाय और कहीं कठिनाई से मिले।

आंदोलन—बिना गोली-बारूद का युद्ध।

इजलास—जिस पर बैठकर मनुष्य न्यायाधीश बन जाता है।

ईमानदार—वह, जो दूसरों को बेईमान बतलावे।

उम्मीदवार—धक्के सहन करने की मशीन।

ऊन—मनुष्य की स्वार्थपरायणता का एक उदाहरण।

ऋण—वह वृक्ष, जो दिन दूना रात चौगुना बढ़कर अपनी आधार भूमि को विलीन कर दे।

एकादशी—अन्न-वर्जित एकादश प्रकार के भोजन पाने का दिवस।

ऐक्य—जो हृदय की अंधकारमयी कंदरा में न ठहरकर वक्ताओं के अधर-पल्लवों पर सदा नृत्य करता रहे।

ओखली—जो सिर को चोटों से निर्भय बना देती है।

औषध--प्रकृति की अनुचरी, परंतु उसके यश का अपहरण करनेवाली।

अँगूठी—सभ्य-समाज में स्त्रियों के दासत्व का चिह्न।

कमल—जो तालाब के अतिरिक्त हिंदी-कवियों की कल्पना में खूब फूलता है, और मनुष्य के प्रत्येक अंग का उपमान बन सकता है।

कायर--जो अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर, दूसरी बार लड़ने के हेतु जीवित रहता है।

खद्दर--देश-भक्ति की मुहर।

खबर—बे पर का पक्षी।

गधा—जिसके पूर्व जन्म का इतिहास अत्यंत श्लाघनीय है। परंतु इस जन्म का वृत्तांत घोर अत्याचारमय है। (देखिए बंकिम बाबू के लोकरहस्य में गर्दभ-स्तोत्र)

घड़ी—वह यंत्र, जो दिन-रात चलकर भी स्थायी रहे। नौ दिन में ढाई कोस चलनेवाले बैल से भी मंद।

घी—वह पदार्थ, जो कलियुग में वनस्पति से जन्म ले जीवहिंसा के कलंक से मुक्त हो गया है।

चुरट—जिसके धुएँ ने कलियुग में यज्ञीय धूम्र का स्थान ले लिया है।

छायावाद--जिस काव्य में छंद की स्वच्छंदता, अर्थ की कृच्छ्रता और विरोध का बाहुल्य हो, अथवा जिसकी छाया अपने बाहुल्य के कारण अंधकार उत्पन्न कर देती हो।

छींक—सायत के सेवकों के कार्यारंभ करने में जो ब्रेक का काम दे।

छुरा—बीसवीं शताब्दी के जेंटिलमैनों का प्रातःस्मरणीय।

जहर—नैराश्य की परम औषध तथा जो अनाड़ी के हाथ में मृत्यु का साधक हो, और डाक्टरों के हाथ से अमृत का काम दे।

झगड़ा—जिसकी उत्पत्ति एक क्षण में हो जाती है, और नाश वर्षों तक नहीं होता।

टका—संसार में सबसे प्रधान संचालन-शक्ति, 'बिन टका टक टकायते।'

ठसक—जो ग़रीब आदमी और कमजोरों में अधिक रहती है।

डाली—वह रिश्वत, जो दंड-विधान से परे हो।

ढाल—मूर्तिमान् आत्म-रक्षा।

तंबाकू—जिसके कारण मनुष्य स्वर्ग में जाना नहीं पसंद करता, और जिसको मनुष्य के सिवा दूसरा कीड़ा नहीं खाता।

तलवार—जिसे केवल दो ही मनुष्य चाहते हैं, वीर और वियोगी।

तीर्थ—जहाँ पुण्य-पाप का पलड़ा बराबर हो जाता है।

तोता—कुछ विद्यार्थियों का आदर्श गुरु।

थाली—भोजन-भक्तों की आराध्य-अन्नपूर्णादेवी।

दान—पाप का मूल्य।

दाँत--वह मोती, जो अपने स्थान से अलग होने पर किसी भाव नहीं बिकते।

धर्म--भारतवर्ष में लड़ाई का मुख्य कारण, और छोटों पर बड़ों के अत्याचार करने का प्रधान साधन।

धोबी—गधे का प्रेमी और कपड़े का मूल्य बढ़ानेवाला, किंतु भाग्यहीन होने के कारण कपड़े का परम शत्रु माना जाता है।

नाई—प्राचीन काल में विवाह का एजेंट। वर्तमान काल में जीवित चलता-फिरता अख़बार। इसके आगे बड़े से-बड़े आदमी टोपी उतारकर सिर झुकाते हैं।

परदा—गुण-अवगुण दोनों को ढकनेवाला और भारतवर्ष में क़िले की दीवार से भी अधिक दुर्भेद्य।

पागल—सबसे अधिक स्वतंत्र और कवि का छोटा भाई।

फ़िज़ूलख़र्ची—ऐसे काम में ख़र्च करना, जो दूसरों को पसंद न हो।

फूट—भारतवर्ष का एक सर्वव्यापी फल।

बंदर—मनुष्य का पर बाबा।

बीमा—जिसका व्यापार करनेवाले मरे हुए मनुष्य को जीवित से अधिक मूल्य देते हैं।

भारतवर्ष—जो देवताओं और विदेशियों को अधिक प्रिय रहा है।

मान—स्त्रियों का ब्रह्मास्त्र। दूसरे अर्थ में निर्धनों का धर्म।

यश—बड़े आदमियों की अंतिम कमजोरी और सारे संसार का ध्येय।

यौवन—संसार के दृश्य को पलट देनेवाली सहज मदिरा।

रईस—जो सिवाय जबान हिलाने के और कोई काम करने का कष्ट न उठा सकें, और जिसके द्वार पर माँगनेवाले और तकाजगीरों की भीड़ रहे।

रोटी—जो कच्ची होती हुई भी पक्की से शीघ्र पच जाती है।

लक्ष्य—दुनिया में सबसे अप्राप्य वस्तु।

लाठी—जिसका रखना भैंस का अधिकारी बना देता है।

वकील—जो दूसरों को लड़ाकर आप लाभ उठावे।

वसीयत—मरणोत्तर जीवन।

सत्य—जो सिवाय न्यायालयों के सत्यमूर्ति साक्षी की जिह्वा के अतिरिक्त अन्य स्थानों में अप्राप्य हो।

शराब—मनुष्य के दोषों को प्रकाशित करनेवाली दीप-शिखा।

शादी—गा-बजाकर काठ में पाँव देना।

हाकिम—जो सदा शांति की दुहाई देता है, किंतु अशांति के कारण जीवन-निर्वाह करता है।

क्षमा—एक अमूल्य पदार्थ, जिसके याचक और दाता दोनों ही धन्य हैं।

त्रुटि—जो बड़े आदमियों से असाध्य है, सदा छोटों के ही भाग्य में पड़ती है।

ज्ञान—जो मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्र बनाकर दूध और शराब बराबर कर देता है।

आप ऊपर के नमूनों से जान सकते हैं कि यह कोप कालांतर में अमर-कोप से कम ख्याति न पाता। शायद गुणग्राहिणी भारत-सरकार मुझे रायबहादुरी भी दे देती, और मैं तो यह समझता हूँ कि सरकार की कृपा का स्रोत केवल रायबहादुरी पर ही न रुक जाता, वरन् मुझको डाक्टर जान्सन की भाँति कुछ छात्रवृत्ति भी मिल जाती; लेकिन संसार के दुर्भाग्य से डाक्टर को खबर लग गई। डाक्टर लोग रोगी के यश को कब सहन कर सकते हैं, वह तो केवल भौतिक शरीर के रक्षक हैं। उनके पेट में चूहे कूदने लगे, और मुझे आड़े हाथों लिया।

राजद्रोह-संबंधिनी पुस्तकों की भाँति वह पुस्तक भी डाक्टर साहब की कोर्ट में, जिसकी अपील परमेश्वर के यहाँ भी नहीं हो सकती है, हज़म हो गई।

अब क्या करूँ! लिखने-पढ़ने को तो तिलांजलि देनी पड़ी, सिवाय इस अशरण-शरण ठलुआ-क्लब की मेंबरी के और कुछ उपाय न रहा। किंतु बिना लिखे-पढ़े भी रहा नहीं जाता। अपनी आदत से लाचार था। लिखूँ तो क्या लिखूँ! ऐसी कौन पुस्तक हो सकती है, जो डाक्टर साहब की क्रोधाग्नि को शमन कर उसे भस्मीभूत होने से बचा ले। ठलुआ-पंथी में बुद्धि कुशाग्र हो जाती है। विचार में आया कि यदि कोई ऐसी पुस्तक लिखी जावे, जिसमें स्वयं डाक्टर साहब की प्रशंसा

हो, तो शायद वह उपेक्षा की दृष्टि से देखी जावे, क्योंकि अपनी प्रशंसा के आगे डाक्टरों को रोगी के स्वास्थ्य की विशेष चिंता नहीं रहती। मैंने एक ग्रंथ "बीसवीं शताब्दी का स्तोत्र-रत्नाकर" लिखना आरंभ कर दिया। उसमें सबसे पहले डाक्टर-स्तोत्र को स्थान दिया है। वह स्तोत्र पाठकों के लाभार्थ नीचे दिया जाता है। इसके लिये डाक्टर साहब से तो अब क्षमा-प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं। उनके विष की तो औषध मिल गई। ठलुआ-क्लब के विज्ञ सदस्यों से इतना नम्र निवेदन अवश्य है कि वह इस प्रकार के ग्रंथ-लेखन को क्लब के नियमों की अवहेलना न समझेंगे (क्योंकि यह कोई उपयोगी कार्य नहीं है), और सहृदय दृष्टि से मुझे इस क्लब में कोई उच्च पद प्रदान करेंगे।

नमो भगवते डाक्टराय !

भगवन् ! कमलयोनि लोकपितामह ब्रह्माजी ने मनुष्य की कल्पना करने से पूर्व आपका निर्माण किया, क्योंकि जहाँ वह जन्म से पूर्व माता के स्तनों में दुग्ध पैदा कर देते हैं, वहाँ क्या वह इस बात को भूल जाते कि मनुष्य को अपने जीवन में ऐसे व्यक्ति की सहायता पड़ेगी, जो कि उसका जन्म से नहीं, वरन् गर्भ से ही साथ दे ; और मरण-पर्यंत उसकी सेवा करता रहे। जब तक आपकी अनुचरी धात्री द्वारा नाभि-नाल का विच्छेद न किया जावे, तब तक बालक अपनी माता के अंकस्थ नहीं होता। मनुष्य चाहे मर भी जाय, तब भी उसकी मृत्यु

प्रमाणित करने के लिये आपके प्रमाण-पत्र की आवश्यकता रहती है। आप हमारी जाति के आजन्म हितैषी हैं, अतः आपको बारंबार नमस्कार है।

आपके अग्रज वैद्यराज से लोगों ने खूब वैर निभाया है। विचारों को 'यमराज-सहोदर' की पदवी से विभूषित किया है। कदाचित् इसी उपहास के कारण यमराजजी ने इस देश पर पूर्ण प्रकोप प्रकट किया है; और प्लेग, बेरी-बेरी आदि नवीन-नवीन रोगों का आविष्कार कर अपने सहोदर वैद्यराज की भोजनचर्या का प्रबन्ध कर दिया है। आपने जन्म धारण कर यमराजजी की कृपा का पूर्ण लाभ उठाया है। आप यमराज तथा वैद्यराज से दो बाँस आगे ही निकल गए। क्यों न हो, नवयुग का प्रभाव ही ऐसा है! आजकल 'विकासवाद' के समय में आपकी बुद्धि ने पूर्ण विकास पाया। श्रीशारदा देवी की कृपा से मारण, मोहन, वशीकरण, आकर्षण, स्तंभन, उच्चाटन आदि सभी विद्याएँ सिद्ध हो गईं। मारण-मंत्र का पाठ तो आपको प्रवेशिका ही में पढ़ा दिया जाता है। मुर्दे चीरते-चीरते आपका हृदय इतना कठोर बन जाता है कि मृत्यु आपके लिये एक साधारण-सी बात हो जाती है। शव-शय्या के पास आपका हृदय तनिक भी विचलित नहीं होता। आप योगी की भाँति स्थिर और अचल रहकर फ़ीस की बातचीत करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। आप शल्य प्रहार से प्राणों को भीतर से खींच लाने का पूर्ण

प्रयत्न करते हैं। यदि प्राण ही बेशर्मी कर मनुष्य-कंकाल के अस्थि-पंजर में बने रहने का दुस्साहस करें, तो आपका क्या दोष? मारण के लिये आप कभी-कभी गोली का भी प्रयोग करते हैं; और उसका लक्ष्य प्रायः सफल भी हो जाता है।

आपकी मोहन कला के आगे बंगाल का भी जादू सामना नहीं कर सकता। 'क्लोरोफ़ार्म' की गंध देते ही आपका मंत्र पूर्णतया सफल हो जाता है। मनुष्य, जानवर क्या, काष्ठ के समान बन जाता है। उसको काटिए-छाँटिए, वह आपके आतंक से चूँ भी न करेगा। मंत्र-मुग्ध इसी को कहते हैं। पंडित लोग तो पराए धन को 'लोष्टवत्' समझते हैं। आप तो पराए धन के अतिरिक्त पराए शरीर को भी 'लोष्टवत्' बना देते हैं। यह आपकी सम्मोहन-कला है। 'वशीकरण' तो आपके बाएँ हाथ का खेल है। आपके सब रोगीगण सदा वशीभूत हो आपके इच्छानुवर्ती रहते हैं। आपके प्रभाव को क़ानून तक ने भी ज़बरदस्त माना है। आपके सामने रोगियों की इच्छा आपकी इच्छा में विलीन हो जाती है। रोगियों का संकल्प आपके श्रीमुख से निकले हुए वचनों की बाट जोहता है। आप भगवान् की भाँति अपने रोगियों को दारुयोषिता की नाईं नचाते हैं, जिसका चाहे भोजन बंद कर देते हैं, और जिसको चाहे कमरे के भीतर क़ैदी बना देते हैं। जिस प्रकार पुलिसमैन की अँगुली साठ मील की चाल से भागनेवाली मोटरकार की गति का अवरोध कर देती है, उसी प्रकार

आपका एक वाक्य बड़े-बड़े सम्राटों तथा महारानियों एवं उच्च पदाधिकारियों और लेखक तथा देश-भक्तों के प्रोग्राम को बात-की-बात में बदल देते हैं! जिसको चाहे कसौली और शिमला भेज देते हैं, और कभी-कभी आगरा एवं बरेली भेजने के लिये भी प्रमाण-पत्रों पर हस्ताक्षर कर देते हैं। आपके रोगी आपकी आज्ञा से ही उठते-बैठते और भोजन, पान व वार्तालाप तक करते हैं। यदि आप मौन व्रत धारण करने का आदेश दे दें, तो आपके रोगियों के अधर-पल्लव एक दूसरे से कदापि अलग न हों। इससे बढ़कर क्या वशीकरण हो सकता है! यदि किसी को आपकी आकर्षण-शक्ति का परिचय लेना हो, तो थोड़ी देर के लिये अस्पताल की यात्रा कर, वह अपना जीवन सफल कर ले। उस समय गीता में वर्णित भगवान् के विराट् रूप का स्मरण हो आता है—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

शहर-का-शहर सिमिटकर अस्पताल के द्वाररूपी मुख में प्रातःकाल से ही प्रवेश करने लगता है। यह सब आपकी महती आकर्षण-शक्ति का प्रभाव है।

आप अपने प्रयोगों में स्वयं काल का भी स्तंभन कर देते हैं। वैदिक काल में तो 'शतायुर्वैपुरुषाः' कहकर मनुष्य को

आयु को एक शतक में ही संकुचित कर दिया था, किंतु आज-कल आपने ओषजन और मंकीग्लांड्स के प्रयोग द्वारा मनुष्य के जीवन को अनंत सिद्ध कर दिया है। स्तंभन द्वारा मनुष्य-जाति की रक्षा का भार आपने अपने सिर पर ही ले लिया है। प्लेग, कालरा और चेचक आदि घोर विकराल रोगों से अभयदान देने के अर्थ टीका की प्रथा का आविष्कार किया है। जिस प्रकार वैष्णवों के अंग पर शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि चिह्नों को अंकित देख यमदूत भागते हैं, उसी प्रकार टीकाचक्र को देखकर रोग भागते हैं। कभी-कभी प्राण-पखेरू भी उड़ भागते हैं।

आप अपने सिद्धांतों के द्वारा रोग का दूर ही से स्तंभन कर देते हैं। इसी स्तंभन कार्य के वश स्वस्थ पुरुषों के घर भी आपकी दाल गल जाती है। आप तुरंत ही Prevention is batter than cure (अर्थात् रोग को दूर रखना, इसके अच्छे होने से श्रेयस्कर है) की शरण लेते हैं।

आप अपने रोगी का घर-बार से उच्चाटन करा, उसका धन-संपत्ति से भी उच्चाटन करा देते हैं। यदि वह धन से मोह करे, तो प्राणों से हाथ धो बैठे। सुस्वाद भोजन से उच्चाटन करा देना तो सहज ही काम है। जब रोगी का धन से उच्चाटन होता है, वहीं आपकी प्रतिभा जागृत होती है। यदि रोगी को बहुत दिनों आपकी सेवा का सौभाग्य मिला, तो उसका मन संसार के सभी सुखों से उचट जाता है। उसको

सभी वस्तुएं भी त्यागनी पड़ती हैं। उसको बस एक आप ही के दर्शनों की चाट रहती है; और सदा इस बात की खोज में रहता है कि कब आप ज्ञान-सागर में ग़ोता लगाकर उसके हित के लिये दो-चार अमूल्य रत्न निकाल लें।

भगवन्! इस पट् प्रयोग के अतिरिक्त आपकी अनंत कलाएँ और विभूतियाँ हैं। आप बात-की-बात में बुड्ढे को जवान और जवान को बुड्ढा बना देते हैं। जिस प्रकार बैल के ख़रीदने के पूर्व दाँत देखे जाते हैं, उसी प्रकार नौकरी के पूर्व उम्मेदवार लोग आपकी परीक्षा के लिये भेजे जाते हैं। बिना आपके प्रमाण-पत्र-रूपी टिकिट लिए हुए वह लोग नौकरी की रेलगाड़ी में सवार नहीं हो सकते। आपकी महिमा इतनी बढ़ी हुई है कि अदालतें भी आपसे डरती हैं; और आपके मिथ्या भाषण को भी उपेक्षा-दृष्टि से देखती हैं। आपकी रिश्वतें फ़ीस के गौरवशाली नाम से प्रख्यात हैं। आप साधारण जल को बहुमूल्य औषध बना, उसमें से लक्ष्मीदेवी का प्रादुर्भाव कर समुद्र-मंथन का नित्य अभिनय करते हैं। वैसे तो स्वयं धन्वतरि-रूप से आपका भी प्रादुर्भाव लक्ष्मीजी के साथ हुआ था। धन्वंतरिजी अमृत का घट लिए हुए निकले थे। आपकी दवाइयों की पेटी पीयूषधारा से कम नहीं है। आप अपने ही में धन्वंतरि एवं चंद्रमा दोनों के व्यक्तित्व को सम्मिलित किए हुए हैं। चंद्रमा को ओषधियों का पति कहा है। इसी से उनका नाम सुधाकर पड़ा। आप भी सुधाकर हैं, क्योंकि

अमृतमयी ओषधियाँ आपके कर-कमलों में निवास करती हैं। वास्तव में आपके 'कर' ही सुधा-रूप हैं। सुरादेवी आपकी सहज भगिनी है, इसलिये आपकी प्रत्येक औषध में उनका प्रयोग होता है। लक्ष्मीदेवी पर तो आप कृपा करते ही रहते हैं। विना उनके 'सुफल' बोले आपके मंत्र तथा औषध और रोगी की 'हाहा विनती' सब निष्फल हो जाती हैं।

आपकी ओषधियों में विष (Poison) का भी खूब प्रयोग रहता है। क्यों न हो! विष भी तो चौदह रत्नों में से एक है। इतना ही, नहीं, वह तो सब में अग्रगण्य है। आप विष द्वारा अमृत का काम करते हैं। सुरासुर दोनों को ही संतुष्ट रखते हैं। आप सदा डाक के घोड़े पर सवार रहते हैं; और "टर", "टर" किया करते हैं। इसीलिये कलियुग में आपका नाम डाक्टर पड़ा।

पीयूषपाणि !

आपके गुणानुवाद गाते-गाते जिह्वा थक जाती है। अब मुझे अपनी शरण में ले, यह वर दीजिए कि मेरा बनाया हुआ यह "डाक्टरस्तोत्र", जो नित्य प्रातःकाल पाठ करे, उसको कभी व्याधि-व्यथा न आवे। वह इस लोक में सुख तथा परलोक में शांति प्राप्त कर मोक्ष का भागी बने! केवल स्तोत्र के साथ आपकी दक्षिणा भक्तिपूर्वक अर्पण करता रहे, तो इस स्तोत्र का महत्त्व अवश्य पूर्ण होगा।

ठलुआ-क्लब की दूसरी बैठक

बेकार वकील

बेकार वकील

वैसे तो मैं अपने को ठलुओं की संज्ञा में स्वीकार करना महापाप समझता हूँ, और यदि कोई दूसरा मुझे इस संज्ञा मे घसीटना चाहता, तो मैं उस पर मानहानि की नालिश कर अपनी बेकारी को कुछ दिनों के लिये बिदा कर देता। अदालत में भी यदि कभी सब-जज महोदय कृपान्वित हो मुझे कमीशन देने की बातचीत चलाते, तो दो-चार बार कोरी डायरी के पन्ने उलटे-पलटे विना मैं सहसा उत्तर नहीं देता। तथापि "यारां न चोरी न पीरां दग़ाबाज़ी।" मित्रों मे मिथ्या भाषण करना इस पेशे तक के लोगों को शोभा नहीं देता। आप लोगों से पैसा तो मिलना नही, केवल सहृदयता ही की आशा हो सकती है। झूठ बोलूँ, तो उसके भी हाथ से जाने का खटका है। मुझे आशा है कि आप लोगों को कभी किसी वकील की आवश्यकता न

पड़ेगी। इस कारण और कुछ न सही, तो ठलुओं ही के सम्मुख सत्य बोलने का दुर्लभ श्रेय क्यों न प्राप्त करूँ।

ए० बी० से मैंने अँगरेज़ी-शिक्षा का प्रारंभ किया था, और बी० ए० पर पहुँचकर उसकी इतिश्री करने का विचार था, लेकिन उस परम पद पर पहुँचते-पहुँचते मेरी अवस्था २६ वर्ष की हो चुकी थी। मैं सरकारी नौकरी के लिये वृद्ध हो चुका था। डाक्टर लोग चाँदी की रसायन द्वारा मुझे बुड्ढे से जवान बना सकते थे, किंतु मेरे मन में बाल्य-काल से स्वतंत्रता के भाव भरे हुए थे। सरकारी नौकरी मिलने की असंभावना को मैंने देश-सेवा करने का ईश्वर-दत्त अवसर समझा। देश-सेवा में रथ केवल भावों के पहिए पर नहीं चल सकता, उसके लिये चाँदी-सोने के पहिए चाहिए—वह बिना रोज़गार के कहाँ? बहुमत से यह बात स्वीकार कर ली गई है कि वकालत ही एक ऐसा पेशा है, जिसमें धनोपार्जन के साथ देश-सेवा भी हो सकती है, क्योंकि हरएक वकील के नाम हिंदोस्तान का वकालत-नामा लिखा ही रहता है। अतः मैंने एक स्थानीय स्कूल में नौकरी कर ली, और कालेज में ला लैक्चर्स भी एटेंड करना शुरू कर दिया था। भविष्य में मुझे वकालत का पेशा इख्तियार करना था, इसलिये मैंने अपनी हाज़िरी भी दूसरों की वकालत से करानी शुरू कर दी। कभी-कभी मेरे वकील जब छुट्टी लेना चाहते, तो फ़ीस में मैं भी उनकी वकालत कर आता। ला क्लास सुरसा के मुख की भाँति दिन दूना रात

चौगुना बढ़ता जाता था और हनुमान्‌जी की भाँति बिना लघु रूप रखे उसकी थाह मिलना कठिन है, और न्यायाचार्य ला प्रोफ़ेसर महोदय को लघुरूप धारण करना उनकी गुरुता के प्रतिकूल प्रतीत होता था।

मेरे प्रोफ़ेसर भी प्रतिनिधित्व-संबंधी सिद्धांत के ऐसे श्रद्धालु थे कि मेरे बिना कष्ट के ही साल-भर की हाज़िरी पूरी हो गई। इम्तिहान की फ़ीस भेज दी गई, किंतु अभाग्य-वश उसमें प्रतिनिधित्व से काम नहीं चलता है। मालूम नहीं, आजकल के ज़माने में, जहाँ सब काम प्रतिनिधि द्वारा चल जाते हैं, इम्तिहान में प्रतिनिधि क्यों नहीं स्वीकार किए जाते। बहुत करें प्रतिनिधि द्वारा जो परीक्षाएँ हों, उनकी कुछ अधिक फ़ीस ले लिया करें। मेरी राय संसार की राय को नहीं पलट सकती थी। अस्तु, इम्तिहान की तैयारी के लिये तीन महीने की छुट्टी ली। लेकिन साल-भर का काम तीन महीने में कैसे तैयार हो। ख़ासकर मुझ ऐसे आलस्य-भक्तों से। लेकिन 'जब तक साँस तब तक आस।' एक पार्क में जाकर शॉर्ट गाइड में घोटा लगाना शुरू कर दिया, और इम्तिहान के दिन गिनने लगा। परीक्षा देने प्रयाग गया। इतना संतोष अवश्य था कि यदि पास न हुआ, तो भी विशेष हानि नहीं। त्रिवेणी-स्नान तो हो जावेंगे, और घर की संपत्ति में बाल-बच्चों के लिये दो-एक ट्रंक अधिक छोड़ मरूँगा। इसके अतिरिक्त दूसरे साल के लिये लैक्चर्स एटेंड करने की बाधा से मुक्त हो जाऊँगा।

बड़े शकुन-सायत से परीक्षा-भवन में जाता था। थोड़ा-बहुत देव-नाम भी स्मरण कर लेता था। पहले रोज़ का पर्चा मेरी समझ में अच्छा हुआ, सोचा कि शायद नाम-स्मरण का ही फल हो। एक रोज़ और ऐसे ही कट गया। लेकिन 'बकरे की माँ कब तक ख़ैर मनावेगी।' तीसरे रोज़ लुटिया डूब ही गई। पर्चा बिगड़ गया, लेकिन तब भी आशा-पाश से नहीं छूटा। परीक्षक की दयालुता का भरोसा तो हमेशा लगा ही रहता है। और स्वार्थ-वश कभी-कभी ऐसी असंभव कथाओं में भी विश्वास हो जाता था कि परीक्षक लोग आधे पर्चे उठाकर एक तरफ़ रख देते हैं; और उनके ऊपर 'पास' लिखकर शेष को 'फ़ेल' कर देते हैं। परीक्षा ख़त्म हो गई। नतीजा आया। 'रोते जानेवाले मरे की ही ख़बर लाते हैं।' स्कूल की नौकरी तो छूटी नहीं थी, फिर भय किस बात का? फिर एक साल उसी तरह तीन महीने की छुट्टी लेकर यत्न किया। इस साल कुछ हाल का परिश्रम और पारसाल का अनुभव काम आ गया। प्रीवियस में पास हो गया, फ़ाइनल की तैयारी हुई। फ़ाइनल भी एक साल के ग़ोता खाने के बाद पास कर लिया। भले आदमी बिना पैर रगड़े आगे क़दम नहीं रखते। ख़ैर, अब क्या है, अब तो मेरी पिछली असफलताओं की लज्जा ऐसी दूर हो गई, जैसे 'गधे के सिर से सींग।'

जिनके पास मैं भूलकर भी नहीं जाता था, उनको बधाई स्वीकार करने के निमित्त उनके घर के चार-चार चक्कर लगाने

लगा। स्कूल से इस्तीफ़ा दे दिया। अब वकीलों के दाँव-पेंच सीखने की जरूरत पड़ी। जहाँ मुक़द्दमे-मामले की बात सुनता, वहाँ अपनी टाँग अड़ा देता। उनके साथ कचहरी जाता, जिरह को ध्यान से सुनता, उर्दू का भी काम-चलाऊ अभ्यास कर लिया। एक गुडेशियल आफ़िसर ने एक सर्टिफ़िकेट भी दे दिया। एनरोलमेंट की दरख़्वास्त भी भेज दी गई। एनरोलमेंट हो जाने पर पहले मुक़द्दमे की फ़िक्र पड़ी। 'नाई के लड़के को सिखाने के लिये कौन अपनी खोपड़ी ख़राब करेगा।' पण्डितों से पहला मुक़द्दमा लेने की साइत पूछी गई। मेरी साइत साधने के लिये कोई साहस न करता था। आख़िर एक सहृदय वकील ने उस रोज मेरी साइत साधने के लिये एक मुक़द्दमे में अपने वकालतनामे के साथ मेरा भी वकालतनामा दाख़िल कर दिया। मुक़द्दमा तो जीत गया, किन्तु उसमें कुछ यश-लाभ न हुआ। दूसरे की छत्र-छाया में रहकर यश-लाभ कहाँ से हो। वह वकील मुझे अपने साथ रखने को तैयार थे; किन्तु मैं अपने को उनसे अधिक प्रतिभाशाली समझता था। उनका यश बहुत था, किंतु उनके पास काम बहुत साधारण-सा प्रतीत होता था। यशस्वी लोग एक दूसरे के तेज को सहन नहीं कर सकते। उत्तररामचरित में ठीक ही कहा है—

> "न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां प्रसहते
> स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः।

मयूखैर श्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः,
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति ॥"

—भवभूति

मैं यशस्वी तो न था, किंतु यशस्वी होने की महत्त्वाकांक्षा रखता था, इसलिये उसके मार्ग में भी चलना चाहता था। इसी कारण बड़े वकील साहब की कृपा से लाभ उठाना मैंने अनुचित समझा। आत्म-विश्वास और आत्म-साहाय्य का पाठ अपने छात्र-जीवन में भली भाँति अध्ययन कर चुका था। दूसरे के सहारे खड़ा होना मुझे लज्जाजनक प्रतीत होता था। स्कूल की नौकरी में जो कुछ बचाकर संग्रह किया था, उसको वकालत की दूकान जमाने में ख़र्च कर देना निश्चय किया। घोड़ागाड़ी इत्यादि रखना तो मैंने अपनी सामर्थ्य से बाहर समझा। एक काला कोट पहनकर रोज बाइसिकिल पर कचहरी की यात्रा करता। मेरे मुहर्रिर महोदय किराए के इक्के पर बस्ता ले कचहरी पर उपस्थित हो जाते, और नीम के नीचे दूकान जमा देते। मैं स्वयं या तो अदालत में जाकर वकीलों की बहस सुनता, और जब उससे जी ऊब जाता, तो बार-रूम में जाकर अख़बार पढ़ता, या मिट्टी के कुल्हड़ों में बरफ़ का पानी पीता। मैं अपने को इसी बात में धन्य समझता था कि और कुछ नहीं, तो वकील हो जाने से बार-रूम में बैठना, पंखे की हवा, ठंडा पानी और 'लीडर' अख़बार, ये सब सुख एक रुपया ख़र्च करने पर ही मिल जाते हैं, और बेकार भटकना नहीं पड़ता; और न

पुलिस को अपनी बेकारी की कैफ़ियत देनी पड़ती है। पहले तो मैं यही समझता था कि कचहरी में बैठने की ही देर है; मुवक्किल लोग, जिस प्रकार गर्मियों में जलते हुए चिराग़ के ऊपर पतंगे आ टूटते हैं, उसी प्रकार वे लोग मेरा घर घेर लेंगे; किंतु दो-तीन महीने में मेरा यह भारी भ्रम दूर हो गया, और कुछ ही दिनों में रोटी-दाल का प्रश्न उपस्थित होने लगा। ख़ाली पेट में ठंडा पानी और पंखे की हवा बुरी लगने लगी। मुझे अपनी बुद्धि पर पूर्ण विश्वास था, लेकिन किया क्या जाय, हर साल सैकड़ों वकील तैयार हो जाते हैं, और जगह एक भी ख़ाली नहीं होती। वकील लोग कुछ पेंशन तो लेते ही नहीं, मरकर अवश्य स्थान ख़ाली कर सकते हैं, किंतु नए वकीलों के दुर्भाग्य से पुराने वकीलों को कुछ अमरौती-सी मिल गई है—वह मरते ही नहीं। और, यदि कोई मर भी गया, तो उसके भाई-भतीजे कूदकर उसके आसन पर विराजमान हो जाते हैं। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी मेरे आत्म-विश्वास ने मुझे जवाब नहीं दिया। मैंने सोचा कि आख़िर सिंह तक को पशुओं के पकड़ने में उद्योग करना पड़ता है, तो मैं भी क्यों न उद्योग करूँ —

'यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।'

मैंने अपने मुहर्रिर महोदय को हर प्रकार से उत्तेजित किया। यहाँ पर मैं यह कह देना आवश्यक समझता हूँ कि मेरे मुहर्रिर मुझसे भी अधिक सज्जन थे। बेचारे प्रातःकाल आते, वकालत-

खाने को झाड़-बुहारकर साफ़-सुथरा कर देते। मुवक्किलों का तो अभाव था ही, उनके स्थान में वह मेरे लड़के-बच्चों को एकत्र कर पढ़ाने लग जाते। मैंने सुबह के वक्त लड़के-बच्चों का तो पढ़वाना बंद कराके यह काम सायंकाल के लिये रख दिया, और गाँव से दो-एक मुक़दमेबाज़ रिश्तेदारों को बुला लिया। वह सुबह के वक्त आते, और मुक़दमेबाज़ी की चर्चा करने लग जाते। मै अपनी बैठक के सब दरवाज़े खुले रखता, जिससे कि आते-जाते लोगों को मेरी मेज़ पर की किताबों का ढेर और कृत्रिम मुवक्किलों का जमघट दिखाई पड़े। उन्हीं रिश्ते-दारों में से एक सज्जन सायंकाल को सराय में चक्कर लगा आते कि कोई भूला-भटका मुवक्किल हाथ लग जावे। इन युक्तियों से कुछ मुवक्किल आने तो लगे, किंतु जितना रिश्तेदारों पर खर्च करना पड़ता था, उसकी अपेक्षा आमदनी चतुर्थांश भी नहीं होती थी। सफलता ने भी मेरा बहुत पक्षपात नहीं किया जिसके कारण शहर में ख्याति पा जाता।

कहते हैं कि बारह बरस में घूरे का भी भाग्य जगता है। महात्मा गांधी के असहयोग की हवा चली, और कई वकीलों ने वकालत करना छोड़ दिया। मेरे लिये भी यह समस्या उपस्थित हुई कि देश-सेवा के जो भाव मेरे हृदय में बाल्य-काल से भरे हुए थे, उनकी पूर्ति करूँ, या ऐसे स्वर्णमय सुअवसर में कुछ अपनी पेट-पूर्ति का साधन कर लूँ। अस्तु, इस सुअवसर को छोड़ना मैंने भाग्य के साथ कृतघ्नता समझी। असहयोग के

दिनों में वकीलों की कमी के साथ थोड़ी-बहुत मुकद्दमेबाजी में भी कमी हो गई, तो भी जब तक इसकी लहर रही, तब तक मेरी भी थोड़ी-बहुत लहर पटी। किंतु भाग्य ने बहुत दिन सहारा न दिया। थोड़े ही दिनों में वकील लोग अपने-अपने स्थान पर आ टपकने लगे, और खाली तख्त फिर से भर गए। एक-एक करके लौटे हुए वकील मेरी आँखों में खटकने लगे, और मैं उनकी 'आँख की किरकिरी' बन गया। अपने ठलुआ-पंथी के दिनों की कमी को पूरा करने के निमित्त वह लोग भूत की भाँति धन कमाने पर उतारू हो गए। इस कठिन कम्पिटीशन की बाढ़ में मेरे पैर उखड़ चले, और मेरा मन इधर-उधर चलायमान होने लगा। कहीं क्रासवर्ड पज़्लू (Crossword Puzzle) के कम्पिटीशन में अपना सिर खपाने लगा, और कहीं लाटरियों में रुपया भेजने लगा। कभी रुई के सट्टे में भाग्य-परीक्षा करने के विचार से ज्योतिषियों का परामर्श लेने लगा, किंतु लक्ष्मीदेवी का कृपापात्र बनने का कोई राज-पथ मुझे न मिल सका। ऐसी ही खींचातानी की अवस्था में मेरे एक मित्र ने कह दिया कि—'व्यापारे वसते लक्ष्मी'।

शुरू से ही देशभक्त और श्रद्धालु होने के कारण मेरे मन में सब ही संस्कृत शब्द वेद-वाक्य का प्रभाव रखते थे। बस, मैं व्यापार की उधेड़-बुन में लग गया। अभाग्य से एक वैद्यजी मेरे पड़ोस में रहते थे। उन्होंने कहा कि देशी दवाइयों के प्रचार करने में देश का हित और धनोपार्जन—'गोरस बेचन और

हरि-मिलन' का-सा 'एक पंथ दो काज' हो जावेगा। दो-एक मित्रों ने मुझे और भी पट्टी पढ़ा दी। उन्होंने कहा कि देशी दवाइयों से तो वास्तविक रसायन बनती है। सोने की राख तो बिरले ही बनाते हैं, किंतु राख का सोना हरएक वैद्य बना लेता है। अपनी विज्ञापन देने की शक्ति में तो विश्वास था ही और वैद्यजी पड़ोस में ही रहते थे, बस, सारा बानक बन गया। लोकहित औषधालय के नाम से एक औषधालय स्थापित कर दिया गया। इतने ही में मुझे एक संबंधी के काम से दो हफ़्ते के लिये प्रयाग जाना पड़ा। मेरे मित्र वैद्यराज ने मेरी अनुपस्थिति में मेरे नाम से अनेकानेक ओषधियों के विज्ञापन जारी कर दिए। वह तो यह समझते थे कि वह लोकहित के साथ मेरा भी हित कर रहे हैं, किंतु मेरे लिये तो 'नादान दोस्त से दानिशमंद दुश्मन बेहतर होता है'—इस कहावत को सिद्ध कर, वह पूरे यमराज के सहोदर भ्राता बन गए। इलाहाबाद से लौटने पर दूसरे ही दिन जज साहब ने मुझे बुलवाया, और बड़े आदर-सत्कार से बैठाया। उन्होंने देशी दवाइयों की प्रशंसा करनी शुरू कर दी। इस विषय में मेरी जानकारी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, तुरंत ही मैं डाक्टर पी० सी० राय की हिंदू केमिस्ट्री के पन्ने और लाइनें बतलाकर प्रमाण देने लग गया। जज साहब ने मेरे औषधालय तथा ओषधियों की प्रशंसा करनी शुरू कर दी, और कहने लगे कि तुम्हारी जीवन-बटिका ने मेरे हेड क्लर्क बाबू की माँ की जान बचा दी। आत्म-ख्याति

का माया-जाल बड़ा दुर्भेद्य है। इससे निकलकर भागना कठिन है। मैंने भी कह दिया कि मेरा औषधालय संसार में नाम कर दिखाएगा। और मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य ही यह है कि देशी दवाइयों का उद्धार करूँ। जज साहब ने इन सब बातों को सुनकर नोट कर लिया। एक महीने बाद यह हुक्म आ गया कि साल-भर के लिये आपसे वकालत करने का अधिकार छीना जाता है। इस अवसर में आप यह निश्चय कर लीजिए कि आप वकालत द्वारा लोकहित करेंगे या औषधालय द्वारा। यद्यपि वकालत में अधिक लाभ न था, किंतु डिबार (Debar) होने की बदनामी से बचने के लिये हाईकोर्ट तक गया। वहाँ से भी यही उत्तर मिला कि जज साहब ने बहुत रियायत की। वकालत तो साल भर के लिये हाथ से गई, अब यह समस्या आ खड़ी हुई कि दवाइयों का रोजगार छोड़ूँ या रखूँ। दवा से भी आर्थिक लाभ तो कुछ न था, केवल इतना ही फ़ायदा था कि लड़के-बच्चों को चूरन मुफ़्त मिल जाता था और घर पर कोई बीमार हुआ, तो बिना मूल्य के ही उनकी चिकित्सा हो जाती। केवल इस सुख के लिये बार एसोसिएशन की ठंडी हवा और सोडा-पानी छोड़ने के लिये जी नहीं चाहता था। डिबार होकर बार-रूम में जाना अपमानजनक था। सिवाय इस ठलुआ-क्लब के कोई ऐसा सहृदय मंडल न था, जिसमें मेरा स्वागत हो। इसी की शरण ली। यहाँ की गप्पाष्टकें पूर्ण बेफ़िकरी की हैं। न कोई वकालत-

नामे पर दस्तखत कराने के लिये मेरी सुख-निद्रा को भंग करता है और न कोई पेशी के लिये जल्दी चलने को तंग करता है।

जय हो इस ठलुआ-क्लब की कि इसने मेरी बेकारी के दिन काट दिए। अब वकालत शुरू करने को एक ही महीना शेष है, लेकिन इस क्लब की मेंबरी न छोड़ूँगा। इसने मेरे बुरे वक़्त में सहायता की है। इसकी मेंबरी के लिये मुझे कोई डिबार न करेगा। बेकार वकीलों के लिये तो रोजगार से इस क्लब की मेंबरी भली। यह रोटी देती नहीं, तो छीनती भी नहीं। सौभाग्य की बात है कि इस क्लब का हाल अधिकारी जनों के सिवाय और सबों से गोपनीय रहस्य रखा गया, यह अच्छा ही हुआ। ऐसा न होता तो सारा नहीं, तो आधा बार एशोसिएशन यहीं उठ आता और ऐक्ट और नजीरों की दुर्गंध से स्वर्ग को नरक बना देता। इस क्लब के वही अधि-कारी हैं, जो कि नीचे लिखे गुणों में से एक या एक से अधिक गुण रखते हों—

(१) दुखी हों, किंतु रोवें नहीं, और यदि रोवें तो रोने में हँसने का आनंद लें।

(२) अपने सिवाय सारे संसार को मूर्ख मानें। धन कमा लेने के कौशल को मूर्खता नहीं, तो कम-से-कम धूर्तता समझें।

(३) भूखों मरते हों, किंतु स्वाभिमान-वश भिक्षा के लिये हाथ न पसारें। पसारें भी तो अपने दाता की ओर सिंह के समान गुर्राते रहें।

(४) धनवान् हों, तो इतने कि विना हाथ-पैर चलाए उनके घर में सोने-चाँदी के ढेर लगे रहें, किंतु हिसाब-किताब करते समय उनका सिर दर्द करने लगे।

(५) विद्वान् हों, किंतु उनका आदर-सम्मान न हो, न वह किसी विश्वविद्यालय के परीक्षक हों और न उनकी कोई किताब किसी स्कूल में पढ़ाई जाती हो।

(६) नौकरी-पेशा, जिनकी नौकरी छूट गई हो, अथवा छूटनेवाली हो ; किंतु जिन्हें भविष्य में नौकरी न मिलने की आशा हो।

(७) बीमार हों, किंतु शय्यासेवी न हों। आसन्न मृत्यु न हो, परन्तु जीने की भी दृढ़ आशा न रखते हों।

(८) घर-बार से छुट्टी पा चुके हों, किंतु किसी के प्रेम-पाश में न फँसे हों, और इसके साथ ही ताश और शतरंज खेलना जानते हों।

(९) भंग पीते हों, किंतु पेट भरने लायक धन कमाने की धूर्तता रखते हों।

(१०) वैज्ञानिक गवेषणा करते हों, किंतु भारतवर्ष के शिक्षा-विभाग में न हों।

(११) बातूनी हों, किंतु रुपया-पैसा कमाने की बात करने को असभ्यता समझते हों।

विज्ञापनयुग का सफल नवयुवक

विज्ञापनयुग
का
सफल नवयुवक

——:o:——

माननीय ठलुआवृंद ! मैं साधारण मनुष्य नहीं हूँ। (अपने को बड़ा कहना और समझना सफलता की कुंजी है) मैं दस सभाओं का सभापति, पंद्रह सभाओं का संचालक, बीस सभाओं का साधारण सदस्य और पचीस कंपनियों का डाइरेक्टर हूँ। इसके अतिरिक्त "सफलता" नाम के एक मासिक पत्र का संपादक भी हूँ। मेरा रोजगार इतना बढ़ा-चढ़ा है कि मेरी आमदनी का औसत क़रीब-क़रीब दो सौ रुपया फ़ी घंटे का होगा। है तो इससे और भी बहुत अधिक, किंतु यदि यथार्थ लाभ बतला दूँ, तो इसका

ग़रीब भारतवासी विश्वास न करेंगे । ख़ास तौर से जब कि वह यह जान लेंगे कि मैं आपके क्लब का स्थायी सदस्य हूँ ।

कदाचित् आप लोगों को भी इस बात का आश्चर्य होगा कि इतनी संस्थाओं से संबंध रखता हुआ भी आप लोगों के क्लब में सबसे आगे आता हूँ और सबसे पीछे लौटता हूँ । आपके आश्चर्य का मुख्य कारण यह है कि आप लोग वर्तमान युग के चमत्कारों से (जिनका परिज्ञान केवल विलायती अख़बारों के शिक्षाप्रद विज्ञापनों से ही हो सकता है) नितांत अनभिज्ञ हैं । अब आपको मैं अपनी सफलता के मुख्य कारण बतलाता हूँ । उनको जानकर शायद आपको ठलुआ-पंथी के लिये अधिक अवकाश मिल जावे ।

सुनिए—

मैट्रीक्यूलेशन पास करते ही मैंने तीस दिन का "शार्टहैंड कोर्स" पंद्रह रुपया खर्च करके लिया । कोर्स के ख़त्म करते ही मुझमें पाँच सौ रुपया माहवार कमाने की योग्यता हो गई । यदि मेरा विश्वास न हो, तो उन लोगों के प्रमाण-पत्र देख लीजिए, जिन्होंने कि यह कोर्स लेकर भारतवर्ष में ही साढ़े सात सौ रुपया माहवार तक की नौकरी पाई है । मैंने केवल शार्टहैंड ही नहीं सीखा, वरन् दो सौ रुपया देकर तीन महीने में बैंकिंग और एकाउंटेंटों का कोर्स भी सीख लिया, और परीक्षा भी पास कर ली । अब मेरी पाँच सौ रुपया माहवार कमाने की योग्यता में क्या शक ?

किंतु पाँच सौ रुपया माहवार केवल योग्यता रखने से ही नहीं मिल सकते हैं। योग्यता के अतिरिक्त प्रभाव की भी आवश्यकता है। आजकल के जमाने में प्रभाव डालने के लिये दूसरे की सिफ़ारिश की जरूरत नहीं। दो गिन्नी ख़र्च करके (Personal magnatism) का कोर्स लिया। एक निगाह से मनुष्य को उल्लू बनाने की शक्ति आ गई। जौनपूर के क़ाजीजी तो गधे से मनुष्य बनाया करते थे, मैं अपना काम निकालने के लिये दूसरों को गधा बनाना सीख गया। उस कोर्स में कुछ पोशाक-संबंधी हिदायतें ही थीं। उनके लिये भी मुझे अधिक परेशान न होना पड़ा। सेल्फ़ मेजरमेंट फ़ार्म (Self-measurement form) पर अपना नाम लिख भेजा, और एक अँगरेज़ी फ़र्म के पास भेज दिया। ठीक छठवें रोज सिला-सिलाया बिना शिकन की तह किया एक सूट घर के दरवाज़े पर (घर के दरवाजे पर ही पहुँचाने का वह लोग वादा कहते हैं) आ गया, सूट-बूट पहनकर टेलीफ़ोन द्वारा (Always at your command) अर्थात् सदासेवक नाम की कंपनी से एक Car खरीदने के बहाने से ट्रायल के लिये मँगा ली। उसकी टायर्स पाँच हजार मील के लिये गारंटीड थीं। और उनके ट्यूब्स में सेल्फ़ हीलिंग अर्थात् स्वयं मरम्मत करनेवाला सोल्यूशन भी पड़ा था। इसलिये वह पंचर-प्रूफ़ बन गए थे। ड्राइवर महोदय जैसे मशीनरी में कुशल थे, वैसे ही चक्रपाणि होकर ड्राइविंग में भी सिद्धहस्त थे। इसके अतिरिक्त वह

क़ायदा-क़ानून के पूर्ण ज्ञाता थे। वह सदा बाएँ से ही मोटर बचाते, चाहे उनके सामने अंधा या लूला अथवा बालक ही क्यों न आ जाय। कार में बैलून टायर चारों पहियों में ब्रेक चारों कमानियों में, शाक एब्सार्बर्स (Shock absorbers) लगे थे, और भीतर गद्दियों के ऊपर हवा भरे हुए रबड़ के तकिए लगे थे। यह न समझा जावे कि यह सब सामग्री आरामतलबी ही के हेतु थी। यह मेरी सफलता में बड़ी सहायक हुई, इसके कारण न तो मेरे कपड़ों में शिकन आई, न माथे पर पसीना, न क्रोध से भ्रू-भंग हुआ और न धक्कों के कारण दिल ही धड़का। ऐसे दैवी साधनों से युक्त गाड़ी में बैठकर सफलता में मुझे संदेह न रहा। वाहन और सफलता के संबंध को धनुर्धारी अर्जुन ही भली भाँति जानते थे, इसीलिये उन्होंने श्रीकृष्णजी से सार्थित्व कार्य लिया था।

सफलता की पूर्ण आशा होने के कारण मैंने अपने पथ को निर्विघ्न बनाने के अर्थ विघ्न-विदारन विनायकजी को "वक्रतुण्ड महाकाय कोटिसूर्यसमप्रभ" आदि श्लोक द्वारा संबोधित न किया। बैंक के दफ्तर में पहुँचते ही मैंने अपना अमेरिकन, जर्मन और इँगलिश डिग्रीज़ से विभूषित कार्ड भेजा। बिना ब्रुश प्रयोग के शीशे की-सी चमक देनेवाली न्यूवियन ब्लैक पालिश से परिष्कृत जूता, बिना शिकन की पोशाक, शेवेक्स (Sh-avex) की सहायता से जिलेट(Gillet) द्वारा दो मिनट में साफ़ किया हुआ चेहरा देखकर मैनेजर ऐसा प्रभावित हो गया

कि मुझे देखते ही उठ खड़ा हुआ, और शेकहैंड के लिये हाथ बढ़ाया। मैंने भी बहुत सधे हुए हाथ से (जिसमें कि न तो भय और न मूर्खता-जनक निर्भयता व्यंजित हो) हाथ मिलाया। अपनी हाऊ टू स्पीक एफ़ेक्टिविली (How to speak effec tively) नाम की पुस्तक में से तीन-चार चुने हुए वाक्यों द्वारा उन्हें बतला दिया कि मैं उनके यहाँ नौकरी स्वीकार कर अपनी योग्यता का परिचय देना चाहता हूँ। मेरी वेष भूषा और चेहरे का निश्चित भाव देखकर मैनेजर को विश्वास हो गया कि मैं किसी धन-संपन्न परिवार का उत्तराधिकारी हूँ और रुपए-पैसे का कार्य बेखटके मेरे सिपुर्द किया जा सकता है। उसको एक असिस्टेंट की आवश्यकता थी। वेतन की बातचीत चली, तो ५००) माहवार सहज ही में तय हो गए। नियमानुकूल जमानत माँगी गई, वह भी एक कंपनी की मार्फ़त दे दी गई।

मुझे कारबार करने में कोई कठिनाई न हुई। आजकल की पद्धति से सब काम मंत्रवत् हो जाते हैं। टबस्नान के कोर्स द्वारा मैंने अपनी स्मरण-शक्ति को आल्हा की तलवार की भाँति खूब तीव्र कर रक्खा था। स्मरण-शक्ति की भी खेती सी होती है। अँगरेजी में उसे 'स्मरण-शक्ति की खेती' (Memey culture) कहते हैं। फ़ायलें-की-फ़ायलें मेरे बनाए हुए इने-गिने कोडवर्ड्स (Code words) में रहने लगे। छः घंटे का काम मैं दो ही घंटे में करने लग गया। मेरा मैनेजर मेरी अलौकिक प्रतिभा को देखकर दंग एवं चकित रह गया और

प्रायः सभी बातों में सलाह लेने लग गया। इससे मुझे बैंक और बाजार की भीतरी बातों का परिज्ञान हो गया। खाली समय को मैंने वृथा न जाने दिया, आख्यायिका लिखने और पत्र-संचालन के कोर्स मँगा लिए। मेरी आख्यायिकाएँ भारतीय विषयों से संबंध रखती थीं। अस्तु, बड़े मूल्य में बिकने लग गईं। कई प्रकाशकों से पुस्तक लिखने की माँग आने लगी, सरस्वतीजी और लक्ष्मीजी अपना विरोध छोड़कर मेरे यहाँ वास करने लग गईं।

बैंक की नौकरी छोड़ दी, और एक्सचैंज के बाजार में हजारों के वारे-न्यारे करने लग गया, अभी तक मैंने विज्ञापनों से लाभ ही उठाया था, किंतु अब मैंने विज्ञापन द्वारा दूसरों को लाभ पहुँचाने का निश्चय कर लिया। "रुपए की खेती", "सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी", "बिना पूँजी के लक्षपति कैसे बन सकता है ?" "भिखारी से कुबेर", "झोपड़ी मे राजमहल", "सफलता की कुंजी" और "स्वर्ग-द्वार" इत्यादि नाम की कई छोटी-मोटी पुस्तकें लिख डालीं। उनके धड़ाधड़ विज्ञापन निकलने लगे। स्वयं अपने मंत्र से मुग्ध हो गया। सोचने लगा कि अब भारत में निर्धनता की समस्या हल हो गई।' एक व्यापारिक सलाह-समिति (Commercial Advice Bureau) भी खोल दी। चिट्ठियों के ढेर-के-ढेर मेरे पास आने लगे। सरकार को मेरे मकान के पास ही 'सफलता' नाम का एक पोस्टआफ़िस भी खोलना पड़ा।

यद्यपि मेरे विज्ञापनों और चिट्ठी के काग़जों पर बड़े मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा रहता था कि—

हरएक मामले पर व्यक्तितः ध्यान दिया जाता है"

तथापि बहुत-से आदमियों की एक-सी ही स्थिति थी और एक-सी ही कठिनाइयाँ होती थीं और उनके प्रायः एक-से ही उत्तर देने पड़ते थे। मैंने इस प्रकार की भिन्न-भिन्न स्थितियों के अनुकूल उत्तर ऐसे टाइप और स्याही में छपवा लिए, मानो वह टाइपराइटर पर से ही उतरे हों! मेरे क्लर्क लोग ही उन उत्तरों द्वारा बहुत-सी चिट्ठियों का भुगतान करने लग गए। दस-पाँच चिट्ठी मेरे ख़ास ध्यान देने-योग्य रहती थीं, वह मेरे पास भेज दी जातीं, उनके उत्तर देने के लिये मुझे क्लर्क्स का सामना नहीं करना पड़ता था। मेरे कमरे में एक ऐसा यंत्र रक्खा रहता था, जिसमें मेरे बोले हुए उत्तर भर जाते; और मेरे क्लर्क लोग उनको टाइप कर हस्ताक्षरों के लिये मेरे पास भेज देते थे।

मैंने व्यापार-संबंधी व्याख्यान देना भी आरंभ कर दिया और एंप्लीफ़ायर द्वारा दस हज़ार आदमियों को एक साथ मेरे व्याख्यानों से लाभ उठाने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता। इन सब बातों के कारण मुझे अपने प्रांत की चेंबर आफ़ कामर्स (Chamber of Crmmerce) का मेंबर बनना पड़ा। कौंसिल में भी प्रवेश करने के लिये वोटों की भीख माँगनी न पड़ी, चेंबर की ओर से ही कौंसिल में भेज दिया गया।

इन सब कामों के करने में मुझे परिश्रम अवश्य करना पड़ता था। इसी परिश्रम के कारण मेरे कुछ बाल भी सफ़ेद हो चले थे, लेकिन बलिहारी इस वैज्ञानिक युग की !! बिजली के इलाज से नए बाल आ गए और मुझे कविवर केशव की भाँति केशों को यह कहकर कोसना न पड़ा कि—

"केशव केशन अस करी अरि ना करिहै काहिं ;
चंद्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाहिं।"

इसके अतिरिक्त परिश्रम सहन करने के भी बहुत नुसखे मिल गए थे। एक आने रोज के क्रूशनसाल्ट (Kruschen Salt) से भोजन का पूरा लाभ और आनंद मिलने लग गया, और मैं बच्चों को अपनी पीठ पर बैठालकर घुड़दौड़ दौड़ने लग गया। अभी तो मैं नवयुवक ही हूँ, किंतु आगे भी 'युवावस्था-विछोह' होने का भय न रहा। मंकी ग्लांड्स (Monkey Glands) का इलाज चल गया है, यदि वह भी सफल न हुआ, तो कृत्रिम दाँत और चश्मे तो बने ही हैं। कृत्रिम चीजें स्वाभाविक से अच्छी होती हैं, न उनमें दर्द की दहशत और न कीड़ा लगने की ही संभावना रहती है।

आदमी को सुखी बनने का एक-मात्र साधन यही है कि वह आँखें खोल ध्यान देकर विज्ञापनों को पढ़ता रहे और यथाशक्ति उनसे लाभ भी उठाये। विज्ञापनों द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी के साधन मिल जाते हैं ! मैं स्वयं तो इन बातों को नहीं मानता, किंतु यदि आप चाहें, तो आपके नाम से

हरिद्वार में ब्राह्मण-भोजन हो सकता है, गंगोत्री का जल सेतुबंध रामेश्वर तक पहुँच सकता है, यमुना तट पर एक श्वास में एक माला जपनेवाले ब्राह्मण आपकी मनोकामनाओं को सफल करने के लिये अनुष्ठान कर सकते हैं; और अर्थ-साधन का तो मैं स्वयं ही एक ज्वलंत उदाहरण बैठा हूँ। किसी बात की आवश्यकता नहीं, चिट्ठी लिखने का भी कष्ट न उठाइए, केवल जवाबी पोस्टकार्ड पर हस्ताक्षर भरकर दीजिए, और सफलता आपके द्वार को खटखटाएगी। ऋद्धि-सिद्धि सब सम्मुख कर जोड़े खड़ी रहेंगी। काम-साधन में आपके हित-चिंतकों की कमी नहीं, एक-से-एक बढ़कर पौष्टिक ओषधियाँ तैयार हैं। यदि आपको कुछ कष्ट करना है, तो केवल इसी बात के विचार का कि इनमें सर्वोत्तम औषध कौन है। उसके लिये गुप्त प्रकाशित पत्रों की गवाही बड़ी सहायक होती है। नाना प्रकार के सुगंधित तैल और इत्र आपके आर्डर की बाट देखते रहते हैं। कपड़ों की भी कुछ कमी नहीं, सस्तेपन को सीमा तक पहुँचा दिया। स्वयं ख़रीदने से ईमानदार एक बात के कहनेवाले विज्ञापनों द्वारा खरीदना लाभदायक है। अपने जीवन और पुंस्त्व का पूर्ण लाभ उठाने के लिये असली कोकशास्त्र और वात्स्यायन मुनि-प्रणीत कामसूत्र का हिंदी-अनुवाद आपको सलाह देने को तैयार है। लड़का-लड़की पैदा करना या न करना आपकी इच्छा के आधीन है। निःसंतान या बहु-संतान के लिये आपको रोना न पड़ेगा। मोक्ष के लिये आपको

योग और प्राणायाम की शिक्षा केवल दो रुपया खर्च करने से ही मिल जावेगी। वेदांत में भी थोड़े ही परिश्रम द्वारा पारंगत हो जावेंगे। सुदामा-कृष्ण की भाँति गुरु की धोती धोने तथा जंगल से लकड़ी ढोने की आवश्यकता नहीं। कठिन-से-कठिन ग्रंथों का सार केवल चार आने पैसे में ही मिल सकता है। प्राकृतिक दृश्यों, तपोवनों और दैवी अनुभव प्राप्त करानेवाले स्थानों के लिये रेल और मोटरकार दौड़ रही हैं। गाइड और पंडे लोग आपको ठीक आपके अभीष्ट स्थान तक पहुँचा देंगे, और जहाँ पर ऋषि-मुनियों को बड़े-बड़े अनुभव प्राप्त हुए हैं, पहुँचा देंगे। यदि आप चाहें, तो वह अनुभव आपको कमरे के ही भीतरी आग तापते-तापते हो सकता है।

लोगों ने अज्ञान-वश कामधेनु और कल्पवृक्ष स्वर्ग में स्थापित कर रक्खे थे। आजकल के वैज्ञानिक और विज्ञापनयुग में स्वर्गलोक पृथ्वी पर ही उतर आया है। रावण ने काल को पाटी से बाँध रक्खा था, यह आप भी कर सकते हैं। मौत पर विजय पाने का हाल आपको मालूम नहीं, क्योंकि आप विज्ञापन नहीं पढ़ते। मौत बुख़ार की तरह एक बीमारी है, जिसका इलाज हो सकता है। पानी के गुणों को आप नहीं जानते, विज्ञापनवाले बतलाते हैं कि 'आपो वै नारायणः'। आप जीवन और मरण को हाथ में कर सकते हैं; आप भी जाइए, तो 'बीमा कंपनियों' की कृपा से आपके बाल-बच्चे भूखों न रोएँगे। साधारण सुखों का तो कहना ही क्या, बिजली के आविष्कार ने

संसार का जीवन पलट दिया है। घंटों का काम सेकेंडों में ही हो सकता है, दूर को निकट बना दिया है। बिजली, जिससे लोग डरते थे, वह आपके घर में भाड़ू देती है। यदि आप वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ उठाना चाहते हैं—तो विज्ञापन पढ़िए, कूप मंडूक न बनिए, मुझे देखिए और मेरा अनुकरण कीजिए। मेरी सफलता देख बहुत-से विज्ञापनदाताओं ने मेरे लिये वार्षिक वृत्ति नियत कर रक्खी है। क्योंकि जो कोई मुझको देखता है, उनकी सचाई में भी विश्वास करता है। मेरा जीवन विज्ञापनदाताओं के लिये एक विस्तृत विश्वसनीय प्रमाण है। जैसा मैं हूँ वैसे आप भी बन सकते हैं; विज्ञापनदाताओं से वृत्ति पाने के कारण मुझे उनका दूत न समझिए। मैं आपके ही हित के लिये यहाँ नित्य आता हूँ। मैं अपनी सफलता का रहस्य कृपण के धन की भाँति गड़ा हुआ नहीं रखना चाहता हूँ, उसे फैलाकर संसार को सुखी बनाना चाहता हूँ। ईश्वर मेरी सहायता करे।

निराश कर्मचारी

निराश कर्मचारी

ठलुआ-क्लब के सहृदय सदस्य !

यद्यपि मैं जानता हूँ कि आप लोग मेरी आपत्तियों को निर्वाण-पद तक पहुँचाने में असमर्थ हैं, तथापि मुझे यह विश्वास है कि आप मेरी रामकहानी को सहृदयता से सुनेंगे और लोगों को मेरी बात सुनने की फ़ुरसत ही नहीं है। जब से मेरे मित्रों ने जान लिया है कि मैं संसार से असंतुष्ट हूँ; वह लोग मेरा किनारा करने लग गए हैं। मैं उनको खोजता हूँ, किंतु वह विजयादशमी के नीलकंठ की भाँति छिपे फिरते हैं। वह मुझे बक्की झक्की की उपाधियों से विभूषित करते हैं। इसलिये लाचार हो मुझे इस क्लब का मेंबर बनना पड़ा है। यहाँ पर यह तो नहीं सुनना पड़ता है—"आज मुझे विधवा-सहायक-फंड के लिये

स्पीच लिखना है", "अभी पाँच मिनट में टाउन इंप्रूवमेंट ट्रस्ट-कमेटी के सदस्य आनेवाले हैं", "ग्यारह बजकर पचपन मिनट पर जानेवाली बम्बई-मेल से मेरे अमुक मित्र विलायत जानेवाले हैं", मानो मैं मित्र नहीं, शत्रु हूँ; मेरी समस्याएँ और आपत्ति कुछ है ही नहीं। अमेरिका के किसी होटल में अपमानित भारतवासी के लिये तो सभा-सोसाइटी करते-फिरते हैं; किंतु मुझे क्या भारतवासी ही नहीं समझते; मेरा जो अपमान होता है, सो क्या कुछ भी नहीं! हाँ, मैं दूसरों की बुराई करते-करते आप लोगों की तारीफ़ करना तो भूला ही जाता हूँ।

आप लोग फ़ुरसत की मूर्ति, दया के अवतार और सहृदयता के आगार हो; क्योंकि आप सब लोग एक-न-एक आपत्ति के सताए हुए हैं। ठीक है, और कहा भी है—

'जाके पाँव न फटी बिवाँई;
सो का जाने पीर पराई।'

बस, आप ही लोग मेरी कथा सुनने के अधिकारी हैं। पात्र और अपात्र का हमेशा विचार कर लेना चाहिए।' ख़ैर, सुनिए:—

जब मैं पढ़ता था, तब मेरी अलौकिक प्रतिभा को देखकर मेरे अध्यापक लोग मेरे भविष्य का दमकता-चमकता दृश्य देखा करते थे। मालूम नहीं, उनकी आँखों में कोई रोग तो नहीं था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' ऐसी-ऐसी

लोकोक्तियों से मेरे माता-पिता का मनोरंजन किया करते थे। शायद उन्हीं चीकने पातों के कारण आई हुई सफलता मेरे पास से ढरक जाती हो। मैं भी उन लोगों की प्रशंसा से फूल-कर कुप्पा हो जाता था और शेखचिल्ली के-से मनसूबे गाँठा करता था। नितांत साधन-हीन होने पर भी मैं विलायत जाकर आई० सी० एस० पास करने के सुख स्वप्न देखा करता था। मैंने पढ़ा था कि 'अपना लक्ष्य हमेशा ऊँचा रक्खो', सो सदा आकाश की ही ओर निगाह लड़ाए रहता था। मैं नवें दर्जे में पढ़ता था, विलायत-यात्रा में सहायता देने के हेतु बहुत-से श्री-संपन्न कुबेरों को लंबे-चौड़े पत्र लिख-लिखकर सर-कार के पोस्ट-विभाग को बड़ा लाभ पहुँचाया करता था। मैंने जो फ़ोर्ड कार कंपनी के प्रोप्राइटर महोदय को पत्र लिखा था, वह मैं आप लोगों को सुनाता हूँ; उसको सुनकर आप मेरी तत्कालीन योग्यता और रचना-कौशल का पता लगा सकेंगे;

Dear Mr. Ford,

Excuse me the courtesy of addressing you in such a familiar manner without any previous Introduction. I know that you are a self-made man, and, as such, you will have sympathy with every one who is willing to labour hard for study, but have not the means to undergo a higher education. I am one of such persons and am writing this request with

the hope that you will be pleased to grant me an adequate yearly allowance for the study of science and engineering in your country. I may tell you that I have natural aptitude for those branches of learning, and my youth and energy will run to waste, if I am allowed to remain in this country where there are no educational facilities for students gifted with genius and orginality. I am a student of an institution run by American missionaries and have great faith in your country. I know your philanthropy is not circumscribed by the narrow boundaries of creed and country and you will not grudge a deserving student the help he needs. Should any worldly return be needed for your generosity. I would suggest that I will try my best to push the sale of your cars in my country.

Yours, with every hope,

डियर मिस्टर फोर्ड,

विना किसी पूर्व परिचय के आपको इस परिचित भाव से पत्र लिखने के साहस को क्षमा कीजिएगा। मैं जानता हूँ कि आपने अपनी उन्नति अपने ही बल के आधार पर की है और आप ऐसे विद्यार्थियों की सहायता के लिये हमेशा तैयार

रहते हैं, जो शिक्षा के लिये हर प्रकार के परिश्रम करने को कटिबद्ध रहते हैं; किंतु उच्च शिक्षा प्राप्त करने के साधनों के अभाव से अपने उद्देश्य पूर्ण करने में असफल रह जाते हैं। मैं भी ऐसे विद्यार्थियों में से एक हूँ और आपके पास यह पत्र इस प्रार्थना के साथ भेज रहा हूँ कि आप मुझको अपने देश में विज्ञान और इंजीनियरी पढ़ने के लिये पर्याप्त वार्षिक वृत्ति लगा देंगे। मैं आपको यह बतला देना चाहता हूँ कि इन विषयों में मुझे विशेष रुचि है। यदि मुझे इसी देश में रहना पड़े, जहाँ कि प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के लिये कोई सुभीता नहीं है, तो मेरी युवावस्था और योग्यता वृथा नष्ट हो जावेगी! मैंने अमेरिकन पादरियों द्वारा संचालित एक संस्था में शिक्षा पाई है और मुझे आपके देश-वासियों पर अधिक श्रद्धा और विश्वास है। मैं जानता हूँ कि आपकी उदारता, देश और जाति की संकुचित सीमाओं से वेष्टित नहीं है और आप ऐसे विद्यार्थियों को योग्य सहायता देने में संकोच न करेंगे। यदि आपको सांसारिक प्रत्युपकार की आवश्यकता हो, तो मैं यह कह सकता हूँ कि मैं अपने देश में आपके मोटरों की बिक्री बढ़ाने का भरसक प्रयत्न करूँगा।

पूर्ण आशा-सहित आपका—

इस पत्र में मैंने अपनी सारी योग्यता खर्च कर डाली थी। अमेरिकावालों की भी तारीफ़ के पुल बाँध दिए थे। अपने भावी दाता के रुचि के अनुकूल कोर्स भी बतला दिया था। उसके

स्वार्थ की भी बात सुझाई थी, उसकी उदारता को भी सीमा-रहित बतला दिया था। अपनी दीनता-हीनता दिखलाने में भी कमी नहीं रक्खी थी, पर फल कुछ भी न हुआ। तीन महीने बाद यही उत्तर मिला कि हमको तुम्हारी महत्त्वाकांक्षाओं से पूर्ण सहानुभूति है। तुम्हारे ही देश में शिक्षा के उत्तमोत्तम साधन हैं, उनसे ही लाभ उठाओ। ऐसे ही उत्तर और स्थानों से मिले। कोरी सहानुभूति से क्या होता है। खैर, जैसे-तैसे एक वर्ष फेल होने के बाद मैंने मैट्रिक पास किया। एफ०-ए० के भी दो साल कटे। एक्ज़ामिनरों के नोट भी मँगाए। स्मरण-शक्ति-वर्धक चूर्ण भी खाए। सरस्वती-मंत्र का जप भी किया। केश-रंजन की शीशियों से दिमाग़ को बरफ़ की भाँति ठंडा कर लिया; किंतु जब गज़ट आया—तो वहाँ मेरे नाम का नाम निशान तक न था! समझा कि छापेवाले की भूल हो गई होगी! गज़ट के परिशिष्ट की बाट देखी। उसमें दो-एक और नाम तो अवश्य थे, किंतु मेरा नाम उसमें भी न था। आजकल की सी दुबारा परचे जाँचने की प्रथा पहले न थी, शायद यह प्रथा होती, तो मैं अवश्य सफल-मनोरथ हुआ होता; किंतु अभाग्य है कि मैंने संसार में अवतार लेने के लिये पाँच वर्ष का विलंब क्यों न कर दिया। ऐसी कोई जल्दी भी तो न थी। मेरे बिना ही पाँच वर्ष और पृथ्वी अपनी कीली पर लट्टू का-सा नाच नाचकर पाँच वर्ष और कागज़ की-सी काली और सफ़ेद दिन-रात बनाती रहती; किंतु उसको मेरे उत्पन्न किए बिना अशांति

थी । एफ० ए० में दुबारा इम्तिहान देकर भाग्य-परीक्षा करना उचित न समझा । क्योंकि मेरे पिताजी मेरी शिक्षा का भार सहने में असमर्थ थे । जहाँ नौकरी के लिये जाता, पूछते क्या पास हो, मैं कहता एफ०ए० फ़ेल, उत्तर मिलता कि साहब फ़ेल की नहीं पूछता, वरन् पास की । यों साफ़ क्यों नहीं कहते कि मैट्रिक पास हूँ । ऐसे कमबख़्तों को बहुत कुछ समझाया कि युनिवर्सिटी की परीक्षा पास कर लेना कोई योग्यता की कसौटी नहीं है, किंतु वे लोग तो लकीर के फ़क़ीर बने हुए हैं और बाबा आदम के समय के विचारों को नहीं भूलते । आज कल के शिक्षा-संसार में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, किंतु उसकी उन्हें कुछ भी ख़बर नहीं । ख़बर तो तब हो, जब कि वह अपनी कुंभकर्णी-मोह-निद्रा से जागें । जैसे-तैसे मुझ को एक रेलवे दफ़्तर में क्लर्की मिली । मैंने अपने भाग्य को सराहा कि बेकारी से यही भली है । जब तक संसार में योग्यता की क़दर न होगी, और युनिवर्सिटी की डिग्रियों पर लोग मुग्ध रहेंगे, तब तक तो ऊँची तनख़्वाह की नौकरी मिलना कठिन था; रोज़गार करें तो उसके लिये धन नहीं ।

नौकरी करते-करते कुल तीन महीने भी न बीते होंगे कि दफ़्तर में एक स्ट्राइक हो गया । लोगों ने मुझे जोशीला नव-युवक समझ अगुवा बना लिया । धीरे-धीरे और लोग तो क्षमा प्रार्थना करने पर फिर भर्ती कर लिए गए, किंतु मैंने माफ़ी माँगना अपने सिद्धांतों के विरुद्ध समझा । मैं तो "प्राण जाहिं

पर वचन न जाही" के ही सिद्धांत पर ही डटा रहा। इस दुर्घट संसार में सिद्धांतों की किसे परवाह है। नौकरी छूटने पर फिर कुछ दिनों जूतियाँ चटकाते फिरता रहा। भाग्य से निराश तो हो ही चला था, किंतु इस संसार में दया का बीज बिलकुल निर्मूल नहीं हो गया। एक सहृदय सज्जन ने मुझे फिर एक दफ़्तर में उसी वेतन पर क्लर्की दिला दी। चाकरी को भीख से भी निकृष्ट बतलाया है। उस दफ़्तर में धीरे-धीरे मुझे इस बात का अनुभव होने लगा। काम की तो इतनी पूछ न थी, लेकिन अफ़सरों का आदर-सत्कार करना ही मुझे वहाँ का परम धर्म जान पड़ा। उस धर्म के पालन करने में मुझे पहले से दीक्षा नहीं मिली थी। मुझको स्कूल का छोकरा समझ मेरी बात नहीं सुनी जाती थी और यदि सुनी भी जाती, तो फ़ौरन काट दी जाती। ऐसी अवस्था में मुझे पद-पद पर अपमानित होना पड़ता था। इस अपमान का प्रतिशोध सिवा नौकरी छोड़ने के और कुछ न था, किंतु बीच में जो दो-तीन महीने जूतियाँ चटकाते फिरते रहना पड़ा था, उसका हृदय-विदारक दृश्य मेरी स्मृति-पटल पर चित्रित होने लगा और मेरे सारे उच्च संकल्प विदा हो गए। इस्तीफ़ा तो नहीं दिया, किंतु नौकरी करना असह्य भार होता जाता था। यदि कुछ आमदनी अच्छी होती, तो दासत्व भी स्वीकार करना इतना बुरा न मालूम पड़ता; किंतु नौकरी में न तो फ़ायदा ही था और न क़ायदा! कहा भी है—"झूठा खाना मीठे के ख़ातिर।" कोरे रजिस्टर काले करने

ही में मेरे पुरुषार्थ की इतिश्री थी। कचहरी में काम की झंझट और घर आकर देवीजी की डाँट-डपट और बच्चों के रोने-धोने के अतिरिक्त तक़ाज़गीरों की माँग। इसके मारे केवल नौकरी तो असह्य न हो गई थी, वरन् जीवन की भी यही दशा हो गई थी। एक बार तनख्वाह मिलने के एक सप्ताह भीतर ही सारे महीने की कमाई तक़ाजगीरों की भेंट हो चुकी थी और उसके दो-ही-एक दिन बाद म्युनिसिपैलिटी के वाटर-टैक्स का बिल आ गया। इस बिल के देखते ही देवता कूच कर गए। यहाँ तो घर के चूहे एकादशी करने लग गए थे और वहाँ पर सत्ताईस रुपए का बिल आ पहुँचा। बिल आते ही मुझे यह खयाल हुआ कि संभव है म्युनिसिपल-दफ्तर के क्लर्क की भूल हो गई हो, जिसने दूसरे का बिल मेरे नाम भेज दिया हो, अथवा मुझसे कुछ दान-दक्षिणा वसूल करने के लिये यह चाल चली गई हो। मैंने झूँझल में आकर एक बहुत बड़ी चिट्ठी म्युनिसिपल-सेक्रेटरी के नाम लिखी, किंतु घर में लिफ़ाफ़ा व टिकट न होने के कारण भेजी न जा सकी। म्युनिसिपल-सेक्रेटरी को तो उस चिट्ठी के पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका, किंतु इस क्लब के सदस्यों को मैं इस सौभाग्य से वंचित रखना नहीं चाहता; क्योंकि आप लोगों के सुनाने में टिकट लिफ़ाफ़े की जरूरत नहीं। चिट्ठी इस प्रकार थी—

'महाशय !

मुझे अत्यंत खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आपके

वाटर-टैक्स के व्यवहार में घोर अन्याय हो रहा है। क्या यह संभव है कि ५०) माहवार वेतन पानेवाला मनुष्य तीन महीने में २७) का पानी पी जावे, अर्थात् एक मास में ९) का और एक दिन में अठारह पैसे का। मनुष्य ही न ठहरा, साक्षात् अगस्त्य मुनि का अवतार हो गया। वैसे तो मैं नल का पानी पीनेवाला भी नहीं हूँ। जो स्वाद ताज़े कूप-जल में होता है, वह नीरस नल के जल में कहाँ प्राप्त हो सकता है? तो भी आपके नगर में रहने का यह दंड देना पड़ता है। मैं समझता हूँ कि मैंने पहले महीने में ही आपकी सब रक़म चुका दी थी। आप शायद रसीद माँगेंगे, लेकिन मैं यह नहीं समझता था कि आपके दफ़्तर में इतनी बेईमानी होती है कि रुपया चुका देने पर भी बिल भेजा जाता है। यदि मैं ऐसा जानता, तो मैं अवश्य उसको कंठाभरण बनाकर रखता। आप तो अपने विभाग के लोगों को ही सच्चा कहेंगे, मुझ ग़रीब की कौन सुनेगा? अदालत में आपके ही खाते प्रमाणित माने जावेंगे। मेरी जिह्वा की साक्षी को कौन मानेगा, किंतु ईश्वर का तो भय कीजिए। अदालतों का तो न्याय दिखावटी है। अस्तु, मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या आपने इस बात की पूरी तौर से जाँच कर ली है कि आपके कर्मचारियों ने मुझको और आपको धोखा तो नहीं दिया है? क्या आपने किसी को भेजकर मेरे घर के पानी की घड़ी को जचवा लिया है? उसकी सुई पानी का ठीक अंदाज़ बताती है, या

नहीं ? क्या आपको निश्चय है कि जो मनुष्य यहाँ से टैक्स ले जाता है, वह आपकी किताबों में ठीक जमा-खर्च कराता है, या नहीं ? क्या आपके क्लर्क लोग जोड़ लगाने में ग़लती नहीं करते ? क्या कभी ऐसा नहीं होता कि आपके खाते में एक के नाम जमा करने के स्थान में दूसरे के नाम रक़म जमा हो जावे ? जब आपके यहाँ इतनी प्रकार की भूलों की संभावना है, तो आप यह किस प्रकार से निश्चय कर सकते हैं कि मेरी ही स्मरण-शक्ति की भूल है कि मैं विना दिए ही यह समझ बैठा हूँ कि मैं कौड़ी-कौड़ी अदा कर चुका हूँ। यदि आप यह चाहते हों कि लोग आपकी संस्था को ईमानदार समझें और उसका आदर करें तो आपको उचित है कि मेरे पास दुबारा तक़ाज़ा भेजने के पूर्व ऊपर लिखी सब बातों की पूरी-पूरी जाँच कर लें, नहीं तो आप मनुष्य और ईश्वर के आगे दोषी ठहरेंगे। केवल इस संसार ही में आप अपयश के भागी न होंगे, वरन् परलोक में भी इस अपराध के लिये आपको घोर यम-यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। यह न समझिएगा कि आप यह कहकर बच जावेंगे कि यह आपके दफ़्तर की भूल थी। आप अपने उत्तरदायित्व का खयाल कीजिए। जब बिलों पर आपके हस्ताक्षर होते हैं, तो उनकी सत्यता के लिये आप ही उत्तरदायी हैं।

आशा है कि आप इस मामले की पूर्णतया जाँच-पड़ताल कर अपनी भूल को स्वीकार करेंगे।

यह तो लिखकर मेज पर रख दिया और बिल को फिर ध्यान पूर्वक देखा, तो मालूम हुआ कि इसमें पिछली सेहमाही का भी महसूल शामिल था। मुझे याद करते-करते तीन महीने बीत चुके थे और यह म्युनिसिपल-कमेटी की कृपा ही थी कि उन्होंने मेरे ऊपर नालिश कर घर के टूटे फूटे बर्तनों का भार हलका नहीं कर दिया। दूसरी बात यह थी कि एक बार नल को खोलकर मैं उसे बंद नहीं करता था, क्योंकि बार-बार खोलने और बंद करने का कष्ट कौन उठावे? यद्यपि मैंने इतना पानी नहीं पिया, तब भी म्युनिसिपैलिटी का पानी तो खर्च ही हुआ। इसमें उनका क्या दोष! इन सब बातों को सोच-विचारकर मैंने अपने ऊपर २७) और ऋण-भार बढ़ा लिया और चुपके-से म्युनिसिपैलिटी का बिल चुका दिया। मेरे तक़ाज़-गीरों का दल बरसाती मेढ़कों की भाँति बढ़ता ही गया। जिधर जाऊँ, उधर किसी-न-किसी ब्योहरे से भेंट हो जावे। बस, मैंने यह सोचा कि किसी-न किसी प्रकार इस शहर से छुटकारा पाऊँ, किंतु बिना किसी से लड़े-भिड़े और नौकरी छोड़ने का भार बिना किसी के सिर पर रक्खे, मुझे उस नगर से प्रयाण करना रुचिकर न था। बहाना भी शीघ्र ही आकर उपस्थित हो गया।

एक बार लाट साहब के यहाँ गार्डन-पार्टी हुई। मेरे दफ़्तर में जो बड़े-बड़े हेड थे, उनके लिये तो निमंत्रण आया और मालूम नहीं कि मुझे उस गौरव से क्यों वंचित रक्खा गया। जिस समय

असहयोग के भाव, जिनका कि बीज मेरे हृदय से समूल नष्ट नहीं हो गया था, मेरे मन में आते थे, उस समय तो मैं यह समझता था कि गार्डन-पार्टी में न जाना मेरे लिये कोई लज्जा का विषय नहीं, किंतु जब अपने नित्य के मिलनेवालों के साथ स्पर्द्धा के भाव जागृत हो आते, तो मैं इस अपमान को सहन करने में असमर्थ हो जाता। सोचने लगता कि उसी हेड की बदमाशी है, जिससे कि मैं एक बार आफ़िस में लड़ पड़ा था। 'गंगा तो आने ही को थी, भगीरथ के सिर पड़ी।' विष्णु भगवान् के सिवाय, जो शेष-शय्या का सेवन करते हैं, खटमलों के भय से कोई चारपाई नहीं छोड़ता, किंतु मैं तक़ाज़गीरों के भय से नौकरी छोड़ने को सहर्ष तैयार था। मैंने नौकरी को तिलांजलि देने का दृढ़ संकल्प कर एक बहुत आत्म-गौरव-पूर्ण शब्दों में त्याग-पत्र लिखा। त्याग-पत्र लिखने से भी मेरा संतोष न हुआ, क्योंकि मैं समझता था कि त्याग-पत्र तो अफ़सर महोदय चुपके से पढ़कर जेब में रख लेवेंगे और मैं अपने अपमान का शान के साथ बदला न ले सकूँगा। मैं फ़ौरन् ही अफ़सर साहब के आफ़िस में चला गया और जो कुछ मन में आया कह सुनाया। त्याग-पत्र को बड़े गौरव के साथ मेज़ पर फेंक दिया। वैसे तो ऐसी छोटी बात पर त्याग-पत्र देने की आवश्यकता न थी और दे भी देता, तो साधारण स्थिति में अफ़सर लोग समझा-बुझाकर उसे वापस करा लेते; किंतु मेरे शब्दों की बाण-वर्षा ने उनके हृदय से सहृदयता और सज्जनता के भावों को कोसों

दूर भगा दिया था। उन्होंने मेरा त्याग-पत्र सहर्ष स्वीकार कर लिया। इतनी ग़नीमत रही कि गजट में मेरी प्रशस्ति नहीं करा दी। अभी एक बार फिर नौकरी करने की लालसा लगी हुई है। यद्यपि आशा तो बहुत कम है, तथापि इसके पास से मुक्त होना भी मुश्किल है। इसके अतिरिक्त किया भी क्या जावे। बस, यही आकांक्षा है कि इस ठलुआ-क्लब की मेंबरी करते हुए आप लोगों की सहृदयता-रूपी तेल से इस दीपक को जगमगाता हुआ बनाए रक्खूँ।

ठलुआ-क्लब की पाँचवीं बैठक

समालोचक

समालोचक

प्रिय ठलुआ-क्लब के सदस्य !

मैंने इतिहास में बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का वृत्तांत पढ़ा था। उसके पढ़ने से और तो कुछ फल न हुआ, किंतु मेरे दिमाग़ का पारा सातवें आसमान पर पहुँच गया। मेरी यह महत्त्वाकांक्षा हुई कि मैं भी सिकंदर और नेपोलियन की भाँति मानव-जाति पर विजय प्राप्त कर शासन करूँ और अपने आतंक से सारे संसार को हिला डालूँ। इस बे-मुल्क की नवाबी के लिये मेरे पास कोई साधन न था। जब इसका मुझे स्मरण आता, तभी कालिदास की "प्रांशुलभ्ये फले मोहाद्बाहुरिव वामनः" की उक्ति याद आ जाती थी। मैंने अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को अपने एक मित्र से कहा। उन्होंने मुझे समालोचक बनने की सलाह दी। पहले तो मैंने उनकी बात का

विश्वास न किया, किंतु जब मैंने एक बड़े लेखक को समालोचक के भय से एक पेज को चार बार लिखने देखा, तो मेरे विचार में आया कि "बुढ़िया के टपके की भाँति समालोचक भी कोई भयंकर जंतु है, जिसके भय से बड़े-बड़े सरस्वती-पुत्र अपने कान खड़े कर लेते हैं। फिर मुझे अपने मित्र की बात में संदेह न रहा और तुरंत मैंने भी समालोचक बनने के हेतु कमर कस ली। मैंने समझ लिया कि यही बे-मुल्क की नवाबी है। समालोचकी सीखने का भारतवर्ष में कोई स्कूल तो है ही नहीं, किंतु दो चार व्यक्तियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि जिनको कुछ काम नहीं, वे ही समालोचक बन सकते हैं। इस गुण की मुझमें कमी न थी। केवल थोड़ी मूर्ख-मोहिनी विद्या की आवश्यकता है, और यदि धन की कमी न हो, तो एक फ़ाउंटेन पेन (Fountain Pen) भी खरीद लेना चाहिए। समालोचक बनकर काव्य की ही नहीं, वरन् सारे जीवन की भली भाँति समालोचना कर सकते हैं। बेकारी की उपाधि मुझे प्राप्त ही थी। दो-चार संग्रह-ग्रंथ पढ़ लिए, फ़ाउंटेन पेन भी खरीद लिया, फिर मैंने निर्द्वंद्व हो समालोचना का कार्य आरंभ कर दिया। समालोचक को अर्थ-लाभ तो थोड़ा ही होता है, किंतु यश के (जिसमें अपयश शामिल है) लाभ की कमी नहीं। एक साथ ही साहित्य-संसार में सूर्य नहीं, तो दामिनी-दमक का-सा चमत्कार कर देने के लिये इसके सिवाय और कोई उपाय न था कि मैं दिल खोलकर वर्तमान-

लेखकों की कृतियों में छिद्रान्वेषण करूँ। दोष-द्रष्टा संसार की निगाह में लेखक की अपेक्षा बल्लियों ऊँचा समझा जाता है। यदि ऊँचा न होता, तो गृद्ध-दृष्टि से देखे ही किस प्रकार ? मैं शीघ्र ही समालोचना के मंच पर विराजकर साहित्य संसार का लक्ष्य बन गया। मेरी भी समालोचकों की नामावली में गणना होनी अनिवार्य हो गई। मैं तो अपने को पाँचवें नहीं-नहीं, चौथे ही सवारों में बहुत दिनों से समझे बैठा था, किंतु अब तो और लोग भी मुझे बिना संकोच के साहित्य के शहसवारों में गिनने लगे। मुझे भी अपनी जाति का गौरव होने लगा। यद्यपि मैं आपके ठलुआ-क्लब का मेंबर हूँ, किंतु इससे यह न समझ बैठिएगा कि संसार में हमारी जाति के लोगों की उपयोगिता नहीं है। हम ही समाज और साहित्य को अतिशयता की ओर जाने में ब्रेक और सेफ़टी वाल्व का कार्य करते हैं। हमारे ही भय से दुनिया डटी हुई है, नहीं तो सुधारक लोग इसे कभी का उलट-पलट डालते। हम लोगों की लेखनी के भारी आघातों से भयभीत हो शासक लोगों की न्याय-परायणता उचित मात्रा से अधिक बढ़ने नहीं पाती। हम ही लोक सम्मति के अधिष्ठान हैं। जैसे "राजा करें सो न्याय", वैसे ही जो कुछ हम कहते हैं वही सत्य और लोक-मत समझा जाता है। समालोचना करने में तो हम ईश्वर तक को भी नहीं छोड़ते, लेकिन यह नहीं मालूम होता कि उस पर हमारे लेखों का कहाँ तक प्रभाव पड़ता है। अस्तु, उस पर कुछ असर हो या

न हो, किंतु मानव-समाज को तो हम अपने चंगुल में ही दबाए हुए हैं लोग जितने ही बड़े होते हैं, उतने ही हमसे डरते हैं। बड़े-बड़े राजा-महाराजा राजनैतिक नेता, धर्म-प्रचारक और जाति-सुधारक हमारे शासन को मानते हैं। (केवल पागल, फ़क़ीर और नंगे लोग हमारे अधिकार से बाहर हैं, उनकी हमको कुछ परवाह भी नहीं) लेखक लोग तो मानों ईश्वर ने हमारे अधिकार जताने के लिए ही बनाए हैं। वह हैं भी इसी योग्य। यदि उनको हम लोगों का भय न होता, तो वे अपने को संसार में सबसे बड़ा समझकर ब्रह्मा से भी बढ़ जाते। मम्मटाचार्य ने तो "नियतिकृतनियमरहितां" का विशेषण दे कवि की वाणी को ब्रह्मा की रचना से भी श्रेष्ठ बता ही दिया है, किंतु हम लोगों के भय से बेचारों को अपनी कल्पना का संकोच करना पड़ता है। जहाँ सीमा-उल्लंघन करने की नौबत आई, वहीं उनका इस भय से हाथ काँपने लगता है कि कहीं हम लोग आकर उनका गला न घोंट देवें। हम लोगों के कारण इनके होश हवास ठिकाने रहते हैं; यदि कहीं प्रमाद-वश एक-आध बात इधर की उधर लिख जावें, और कहीं हम लोगों की आवाज़ धीरे से भी उनके कान तक पहुँच गई, तो वह प्रकाशकों की (दूसरे संस्करण के लिये) नाक में दम कर देते हैं, समझते हैं कि दूसरे संस्करण में तो हम लोगों को वह नीचा दिखा ही देंगे; लेकिन भला वह हम लोगों की कहाँ बराबरी कर सकते हैं? इधर से उधर जोड़-बटोरकर ताना-

बाना बुनना पड़ता है और उसमें दो-चार छिद्रों का रह जाना कोई असंभव बात नहीं ; फिर क्या, हमारी बन पड़ती है। उन्हीं छिद्रों में अपनी लेखनी को डाल, उनके बने हुए पाटंबर की धज्जी-धज्जी उड़ा दी जाती है; और फिर उन्हें चुप होकर ही बैठना पड़ता है। बेचारे यह कहकर अपना मन समझा लेते हैं कि हम ऐसे क्षुद्र लोगों को उत्तर देकर अपने को क्षुद्र नहीं बनाया चाहते। वह क्या हमारी बराबरी करेंगे ? हाथी चले जाते हैं और कुत्ते तो भूका ही करते हैं, यह सब कहना निरुत्तर होने का द्योतक है। जहाँ किसी एक बात का भी उत्तर मिल गया, तो फिर अपना बड़प्पन भूल, मैदान में आ कूदते हैं; किंतु फिर भी पछाड़ खानी पड़ती है। कारण यह है कि दाई से पेट नहीं छिपाया जा सकता।

समालोचक बनने के पूर्व थोड़ी बहुत लेखकी में हम भी अपनी टाँग अड़ा चुकते हैं, और इस कारण लेखकों की सब चालाकियाँ जाने रहते हैं। सर्प ही को सर्प के पैर दीख सकते हैं, इसी सिद्धांत के अनुसार चोर ही को दूसरे की चोरी का शीघ्र पता लग जाता है। लेखक तो अपने मन में यह समझते हैं कि यदि हमने बँगला या अँगरेजी से अनुवाद कर लिया, तो दूसरा कोई क्या पता लगा सकेगा; परंतु हम लोगों को सिवा चोरी ढूँढ़ने के दूसरा काम ही कौन ? जहाँ अल्प-मात्र विचार-साम्य का पता चल गया, तो फिर क्या, हम लोग राई से पर्वत कर दिखा देते हैं। विनीत सत्यवक्ता लेखकों पर तो हमें

दया आ जाती है। कभी-कभी हम भी शिष्टाचार में आकर लिख देते हैं कि "अनुवाद में मूल से भी अधिक आनंद आता है", अथवा कि यह "विचार-साम्य आकस्मिक है"; किंतु जहाँ पर मौलिकता का दावा किया जाता है (स्वयं लेखक तो इतनी अशिष्टता नहीं करते, किंतु दो-एक ऐसे पृष्ठपोषक रखते हैं कि जिनके प्राक्कथनों द्वारा अपनी मौलिकता की पूर्णतया प्रशंसा करा लेते हैं), वहाँ तो हम लोगों के लिये चुनौती सी दे दी जाती है। यदि हम पूर्वापर लगाकर लेखक महोदय की मौलिकता की मूल खोज निकालें, तो हम पर असहृदयता का दोषारोपण करना हमारे साथ अत्याचार है। खैर, हम भी इस अत्याचार को चुपके-से सह लेते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि 'भूखा मरता क्या न करता।'

हम लोगों के तीक्ष्ण दंतों की चोट खाए हुए एक सुविख्यात लेखक ने हमको गर्दभराज की पदवी देकर नवतृणांकुर समर्पण किए हैं, और हमारे पूर्वावतारों का वर्णन करते हुए महाराजा दशरथ और युधिष्ठिर को स्वर्ग से घसीट लाए हैं। वह कहते हैं कि यदि यह महात्मागण हमारे पूर्वावतार न होते, तो एक ऐसे सुपुत्र को और द्रौपदी ऐसी सती भार्या को कष्ट न पहुँचाते। अस्तु, लेखनी तो आपके हाथ में है, चित्रकार और सिंह की-सी बात है। जो चाहे, सो कह लीजिए। छोटों का कहना ही क्या? बड़े-बड़े लोगों ने हमसे बदला लेने का यत्न किया है। चाहिए तो यह कि वर्तमान लेखक हमारे कथनों

का बुरा न मानें, क्योंकि जब हम कालिदास ऐसे धुरंधर कवि की निरंकुशता और तुलसीदास ऐसे कवि-शिरोमणि की कविता में छंदोभंग के दोष निकालने में नहीं हिचकते, तो वर्तमान लेखक फिर कहाँ बचे? किंतु यह लोग अपने को भवभूति और कालिदास से अधिक नहीं, तो कम भी नहीं समझते। फिर हमारी बातें उनको कहाँ सहन हो सकती हैं? हमारे आघातों से बचने की पेशबंदी में गणेश और शारदा के साथ हमारी भी वंदना कर दी जाती है। महात्मा तुलसीदासजी ने हमारे ही लिये लिखा है—

**"छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई; सुनिहहिं बाल बचन मन लाई।
निज कबित्त केहि लागि न नीका; सरस होइ अथवा अति फीका।
कबित बिबेक एक नहिं मोरे; सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।"**

—इत्यादि

पंडितराज जगन्नाथ पहिले ही तारीफ़ न करनेवालों को अजान बगुला बना देते हैं उनकी बुराई का कौन बगुला बनेगा? देखिए

**कमलिनि मलिनीकरोषि चेतः
किमिति बकैरवहेलिताऽनभिज्ञैः;
परिणतमकरंदमार्मिकास्ते
जगति भवन्तु चिरायुषो मलिन्दाः।**

—पंडितराज जगन्नाथ

भवभूतिजी पहले से ही हार-सी मान लेते हैं। कि वह कविता और वनिता को एक कर देते हैं। देखिए—

"सर्वथा व्यवहर्तव्ये कुतो ह्यवचनीयता ।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥"—भवभूति
"कुटिल मनुज सो रहि सकत, भला कौन निस्संक ;
सद्वनिता कवितान में, जो नित लखत कलंक"

—सत्यनारायण

जयदेव-ऐसे भक्त कवि भी अपनी प्रशंसा किए विना नहीं रहते । देखिए—वह अपनी कविता की मिठास के आगे संसार भर की मधुर वस्तुओं को तुच्छ समझते हैं—

"साध्वी माध्वीक चिन्ता न भवति भवतः शर्करे कर्कशासि
द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृत मृतमसि क्षीर नीरं रसस्ते;
माकन्दक्रन्दकान्ताधरधरणितलं गच्छ यच्छन्ति भावं ।
यावच्छृङ्गारसारस्वतमिह जयदेवस्य विष्वग्वचांसि ।"—जयदेव

कुछ बुद्धिमान् लेखक हम लोगों को रिश्वत देने लग गए हैं। बड़े नम्र-भाव से अपनी पुस्तक के ऊपर लिख भेजते हैं कि "आशीर्वादात्मक समालोचनार्थ ।" ऐसी नम्रता के आगे हम लोगों में जो विशेष अनुभवी नहीं हैं, उनके अस्त्र-शस्त्र ढीले पड़ जाते हैं; किंतु धुरंधराचार्यों को कृष्ण भगवान् की भाँति मोह नहीं सताता, और वह अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होते। अस्तु, जो कुछ भी हो हम लोगों ने आजकल संसार में अच्छी धाक जमा ली है और कुछ लाभ नहीं, तो पुस्तकें ही पढ़ने को मिल जाती हैं, और उसके बदले में काम कितना—केवल दस-पंद्रह लाइनें लिखना ! वह कुछ कठिन कार्य नहीं।

पुस्तक के प्रकाशक और लेखक के नाम लिखने में ही दो-एक लाइनें ख़त्म हो जाती हैं। तदनन्तर मूल्य और पृष्ठ-संख्या एवं काग़ज की छपाई, सफ़ाई, कटाई; बँधाई की थोड़ी बहुत प्रशंसा कर दी। विषय-सूची को देखकर पुस्तक में प्रतिपादित विषयों के नाम दे दिए, और यदि उस सम्बन्ध में कोई श्लोक वा अन्य कोई वार्ता स्मरण आ गई, तो उसे नोट कर दिया। बस, हमारे कर्तव्य की इतिश्री हो गई। लेखक भी इससे अधिक नहीं चाहते। यदि अवकाश न हुआ, तो हमने भी इतने में संतोष कर लिया, और यदि थोड़ा बहुत अवकाश मिल गया, तो बेधड़क समालोचक होने की ख्याति प्राप्त करने के अर्थ दो-चार पुस्तकों की विस्तृत समालोचना लिख डाली; और फुरसत से बैठ दिन-भर आनंद किया।

सबसे सुखी हम ही हैं। हम चाहे जिसको बुरा-भला कह डालते हैं। हमको बुरा-भला कहनेवाला कोई नहीं। संसार की सब शक्तियों से बढ़कर हमारी शक्ति है, जिसके प्रभाव से सब सिर झुकाते हैं। हमारे प्रसन्न करने का रहस्य बहुत लोग खोज रहे हैं, किंतु बिना हमारी कृपा के यह गोपनीय रहस्य किसी को भी प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान् की भाँति हमारे लिये भी कहा जा सकता है—

"सोइ जानत जिहि देहु जनाई; जानत तुमहि तुमहि ह्वै जाई।"

—गोस्वामीजी

संसार के लाभार्थ आज मैं स्वयं आप लोगों के सम्मुख

यह रहस्य प्रकट कर रहा हूँ। जो लेखक इन बातों पर ध्यान देवेंगे उनको तीनों काल में दुष्ट समालोचना की बाधा न सतावेगी ; और वे गोपद की भाँति अकीर्ति के दुस्तर सागर से अनायास ही तर जावेंगे।

(१) साधारण पुस्तक भी बढ़िया प्रेस में छपवाइए, और पुस्तक का राजकीय संस्करण समालोचक की सेवा में भेजिए। जहाँ तक हो सके साधारण संस्करण कभी न भेजिए।

(२) पुस्तक के ऊपर 'समालोनार्थ' लिखकर साधारण बुकपोस्ट से न भेज दीजिए। एक पत्र भी लिखने का कष्ट उठाइए, और बड़े नम्र-भाव से लिखिए कि इस पुस्तक के विषय में अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान करके मुझे अनुगृहीत कीजिए। इस विषय मे आचार्यों का मतभेद है कि पुस्तक पर कुछ लिखा जावे, या नहीं। कुछ लोग तो पुस्तक पर 'समालोचनार्थ' लिखे रहने में अपना गौरव समझते हैं और कुछ लोगों का यह कहना है कि जो लोग पुस्तक पर कुछ लिख देते हैं, वह अपने समालोचक को चोर समझते हैं और इस भय से कि पुस्तक कहीं बेच न दी जावे, अपनी निशानी डाल देते हैं। इस विषय में लेखकगण अपनी बुद्धि का उपयोग करें! यहाँ पर अंधे की लाठी काम न देवेगी।

(३) यदि संभव हो तो किसी धुरंधर समालोचक से भूमिका लिखवा लीजिए, तो हम सब लोग आँखें मूँदकर उसका अनुकरण कर देवेंगे।

(४) अपनी भूमिका में अपने प्रतिपादित विषय का संक्षेप में वर्णन कर दीजिए, जिससे कि हमको पूरी पुस्तक पढ़ने का कष्ट न उठाना पड़े।

(५) विषय सूची के अध्यायों के साथ अधिकारियों की भी नामावली दे दीजिए और पेज के सिरे पर भी उस पेज की मुख्य बात लिख दीजिए।

(६) प्रूफ किसी समाचारपत्र वाले से दिखला भेजिए, क्योंकि जहाँ और कोई भूल नहीं मिलती, वहाँ हम लोग प्रूफ की अशुद्धियों से लाभ उठा लेते हैं।

(७) दो-चार बड़ी पुस्तकें—जैसे एंसाइकलोपीडिया, ब्रिटेनिका (Fncyclopedea Britanica) वा एथनोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया अथवा त्रैवार्षिक खोज की रिपोर्ट का उल्लेख अवश्य कर दीजिए। यदि हो सके, तो हर्बर्ट स्पेंसर, हक्सले बगसन, हडसन, हैजलिट आदि बड़े-बड़े अँगरेजी लेखकों के नाम खींचतानकर घसीट लाइए।

(८) यदि प्राचीन कोई विषय हो, तो किसी नवीन ग्रंथ से अवतरण देकर उसकी पुष्टि कर दीजिए; जिससे हमको तुलनात्मक शब्द व्यवहार करने का अवसर मिल जावे।

(९) किसी बात को बिलकुल निश्चित रूप से न कहिए। सदा बदलने की गुंजाइश रखिए।

(१०) यदि चोरी कीजिए, तो किसी नितांत अपरिचित ग्रंथ से कीजिए और फिर किसी स्थान में भी उस ग्रंथ का

जिक्र न कीजिए। उस ग्रन्थ पर कोई अपने हाथ का नोट न लिखिए, और न उसके विषय में अपने किसी मित्र से कहिए।

(११) मौलिकता की अधिक डींग न मारिए और कुछ साधारण बातों में दूसरों की कृतज्ञता भी स्वीकार कर लीजिए। अतिशय विनीत-भाव भी अच्छा नहीं। भूमिका न लिखिए, तो सब आपत्तियों से बच जाइएगा।

(१२) ऐसी पुस्तक समालोचक के पास न भेजिए, जिसमें किसी ऐसे व्यक्ति की बुराई हो; जिनको कि वह श्रद्धा की दृष्टि से दिखता हो।

(१३) यदि हम लोगों में-से किसी ने पुस्तक लिखी हो, तो उसकी उदारता के साथ प्रशंसा कर दीजिए। फिर क्या है!

"मन तुरा हाजी बिगोयम तोमरा क़ाज़ी बिगो"

(१४) समालोचना के लिये पुस्तक भेजने से पूर्व यदि हम किसी पत्र के सम्पादक हों, तो हमारे अख़बार के लिये दो-चार महत्त्व-पूर्ण लेख लिख दीजिए; और नहीं तो कम-से-कम ग्राहक ही बन जाइए। अपनी पुस्तकों के विज्ञापन हमारे ही अख़बार में छपवाइए।

(१५) हमारा और जो कुछ उपकार हो सके, सो कर दीजिए। सोना-चाँदी तो चाहिए ही नहीं, हमको वोट देकर किसी सभा-सोसाइटी का मेम्बर करा दीजिए। दो-चार मान-पत्र दिलवा दीजिए। अपनी पुस्तक में हमारी पुस्तकों का उल्लेख कर दीजिए। इत्यादि।

ठलुआ-क्लब की छठवीं बैठक

प्रेमी वैज्ञानिक

प्रेमी वैज्ञानिक

विज्ञ ठलुआ-वृंद !

यद्यपि संतति के अर्थ, जो कि संसार की आवश्यकताओं में से है, प्रेम वांछनीय है ; तथापि इसके पूर्व मैं प्रेम को एक प्रकार का पागलपन ही समझता था। क्योंकि मुझे यह एक बड़ी समस्या थी कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के वश में किस प्रकार हो जाता है और किस प्रकार वह उसके आगे कठ-पुतली की भाँति नाचता है तथा उसकी आज्ञाओं के लिये चातक की भाँति तृषित रहता है और उनके पूर्ण करने में असंभव को संभव कर दिखाने का साहस रखता है। अपने प्रेमास्पद को सारे जगत् का केंद्र मान संसार की अवहेलना करता है और उसी को अपनी सारी क्रियाओं का अंतिम लक्ष्य बना लेता है। इन सब बातों को मैंने उपन्यासों में पढ़ा था। इतना ही नहीं, दूसरों

को इस दशा में देखा भी था, किंतु स्वयं मुझे यह दशा प्राप्त नहीं हुई थी। इसी कारण मैं प्रेमी मनुष्यों को कुछ संदेह की दृष्टि से देखा करता था।

मैंने परिमाणुओं में मैत्री और चुंबक में आकर्षण-शक्ति का होना पढ़ा था, किंतु प्रेम के रहस्य को उद्घाटन करने में समर्थ न था। क्योंकि सब मनुष्यों के परिमाणु तो एक-से ही हैं, फिर उनकी आकर्षण-शक्ति किस प्रकार भिन्न-भिन्न होती है। लोग मुझसे कहते थे कि प्रेम का भूत कभी-न-कभी प्रत्येक मनुष्य को आ दबाता है। शिव, नारद और विश्वामित्र भी नहीं बचे, फिर हम मानव देहधारियों की क्या गणना है। किसी भाँति यह ठीक भी हो, किंतु मैं यह समझता था कि प्रेम-विज्ञान के अभेद्य दुर्ग में नहीं प्रवेश कर सकता है। वैज्ञानिक लोगों के पास भौतिक नियमों का प्रेमप्रूफ़कोट रहता है इसलिये उनको प्रेम की ज्वाला स्पर्श तक नहीं कर सकती है।

मेरे इन अभिमान-पूर्ण वाक्यों को सुन, दो-एक मनुष्य हँसे, और उन्होंने कहा कि प्रत्येक मनुष्य के 'हृदय की प्यास' एक-सी नहीं होती। जब अनुकूल पात्र मिल जाता है, तब ही तृप्ति होती है। इस भविष्य-वाणी के पूरा होने के लिये मैं भी उत्सुक था, क्योंकि इस पागलपन के रहस्यमय आनंद में मुझे विश्वास तो न था, किंतु मैं वैज्ञानिक होने के कारण किसी बात को संभावना के क्षेत्र से बाहर न समझता था और सब बातों को अनुभव गत करना मैं अपना परम धर्म मानता था।

मैं डी० एस-सी पास कर चुका था और मुझे एफ़० आर० एस० की पदवी प्राप्त हो चुकी थी। मेरी मित्र-मंडली मुझे श्रद्धा और गौरव की दृष्टि से देखती थी और मेरे भविष्य के लिये आशा के बड़े-बड़े पुल बाँधा करती थी। लोग समझते थे कि मैं वेदों के बीज-रूप विज्ञान को फलवान् बना सकूँगा। मित्रों के अनुरोध से मैंने हिंदी-भाषा में लेख लिखना शुरू किया। मित्रों का कहना था कि यह अपने देश और भाषा के लिये बड़ी गौरव की बात है कि मुझ-ऐसा मौलिक विचारवाला वैज्ञानिक हिंदी में लिख-पढ़ सकता है। मैं अपनी मातृ-भाषा की बुभुक्षा को तृप्त न करूँ तो महान् पाप का भागी होऊँगा, इसी भय से जैसे-तैसे मैंने नागरी-प्रचारिणी सभा के हिंदी-वैज्ञानिक कोष की सहायता से "शक्ति-स्थिति" (Conservation of Erargy) पर एक लेख लिखकर ज्योति नाम की पत्रिका में भेज दिया। लेख छपा, किंतु उसके नीचे यह दोहा लिखा था—

"सरस्वति के भंडार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यों-त्यों बढ़ै बिन खरचे घट जात॥"

—वृंद

इस दोहे को पढ़ते ही मैं चकित रह गया। मेरी विचार-धारा उलटी बह चली। मैं 'शक्ति-स्थिति' के प्रतिकूल विचार करने में एक वैज्ञानिक पाप समझता था! महामहिम अपेक्षावाद के प्रचारक आचार्य 'आइंसटाइन' के आविष्कारों से भी मेरा विचार न हटा था, न रेडियम ने ही मेरे ऊपर अपना प्रभाव

डाला था। किंतु ज्ञात नहीं कि इस दोहे में कौन-सा जादू भरा था। मैंने दोहे को एक बार फिर पढ़ा, दोहा कोई नया दोहा न था। यद्यपि मैं साहित्यिकों में से नहीं हूँ, तथापि शिक्षावलियों का ज्ञान तो नहीं भूला था। उस दोहे ने 'शक्ति-स्थिति' के नियम पर एक नया आलोक डाला, वास्तव में हमारी मानसिक क्रियाएँ 'शक्ति-स्थिति' के नियम से बाहर हैं। जब मैंने दोहे पर तिबारा दृष्टि डाली, तो उसके नीचे एक महिला का नाम 'प्रमोदबाला' लिखा देखा। वह नाम भी बड़ा मनोहर था। एक बार तो मेरा आत्म-गौरव आहत-सा प्रतीत हुआ। मैं और एक स्त्री के लिखे हुए दोहे पर अपना विचार बदलूँ! संसार मुझे मूर्ख समझेगा। स्त्रियों का वैज्ञानिक क्षेत्र में क्या काम? तुरंत ही विचार ने फिर पलटा खाया। सोचा कि वर्तमान युग में रेडियम का आविष्कार बड़े महत्त्व का समझा जाता है और उसकी आविष्कर्त्री मेडनक्यूरी एक स्त्री-रत्न ही हैं; फिर मुझे स्त्रियों को वैज्ञानिक क्षेत्र से बाहर करने का क्या अधिकार! ऐसे ही विचार करते-करते कुछ दिन बीत गए। इस बीच में 'ज्योति' के संपादक महोदय की एक माँग आ गई, उन्होंने लिखा कि उनकी पत्रिका मुझ-ऐसे विद्वानों के ही सहारे पर चल रही है। वैसे भी लेखक के लिये इतना प्रोत्साहन काफ़ी है, किंतु इस पत्रिका ने मेरे विचारों को उत्तेजित किया था, फिर ज्ञानांजन-शलाका से मेरे नेत्रों को उन्मीलन करनेवाली गुरुरूपा पत्रिका की क्यों न सेवा करता। अस्तु, मैंने अपेक्षावाद पर एक लेख

फिर भेजा, वह भी यथासमय प्रकाशित हुआ। ठीक पहले की भाँति उसके नीचे अब की बार यह दोहा लिखा था—

> **"हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाँव ;**
> **कहा जानिए कहत हैं, ससिहि सीत कर नाँव।"**
>
> **—बिहारी**

इसके पूर्व मुझे इतना संदेह अवश्य होता था कि "पहला दोहा जान-बूझकर लिखा गया है", अथवा "सुभाषित की रीति से लिख दिया गया है" ; किंतु इस दोहे को पढ़कर यह संदेह मिट चला कि "यह दोहे सुभाषित-मात्र हैं।" इसके साथ एक नई विचार-माला यह उठ खड़ी हुई कि 'इन दोहों की लेखिका क्या मुझको जानती है?' क्या इसने मुझे देखा है? या यह मुझसे शास्त्रार्थ करना चाहती है? शास्त्रार्थ क्यों, अब की बार का दोहा तो मेरी पुष्टि में ही है। जब विरोध ने इतना आकर्षण किया है, तो समर्थन का कहना ही क्या है। निदान मुझे लेखिका के विषय में कुछ और जानने की चिंता हुई। मैंने सोचा कि मुझे सिद्धांत की दृष्टि से काम है, लेखक वा लेखिका की व्यक्तिता से क्या प्रयोजन?

यद्यपि व्यक्तिगत परिचय की खोज में मैं वैज्ञानिक पथ से हट रहा था, तथापि अपनी आत्मा के संतोष करने के लिये कुछ बहाना मिल ही गया। अब मैं विज्ञान को विस्तृत दृष्टि से देखने लगा। मनोविज्ञान की दृष्टि से लेखिका की व्यक्तिता-सम्बन्धी पूछताछ आवश्यक समझने लग गया।

यद्यपि मैं वैज्ञानिक था, तथापि सामाजिक बन्धनों से स्वतंत्र न था। इसी कारण संपादक से पूछने का साहस न कर सका और यदि कोई पुरुष होता, तो वैज्ञानिक भाई-चारे के सम्बन्ध से संपादक द्वारा पत्र-व्यवहार भी आरंभ कर देता। किंतु हिंदू-समाज के संस्कारों को सहज में न तोड़ सका। चुप होकर बैठना भी मेरे लिये कठिन था। दोहे में सापेक्षतावाद की तो पुष्टि थी, किंतु उसके साथ 'विरह-वर्णन भी सम्मिलित था। इसमें यह नहीं ज्ञात होता था कि कौन-सी बात प्रधान है। झूले की भाँति मेरा मन आंदोलित होने लगा। वैज्ञानिक भाव तो सापेक्षतावाद की पुष्टि की ओर खींच ले जाता था और प्रेम (जो अभी अंकुरित-सा ज्ञात होता था) 'विरह-वर्णन' की ओर झुकाता था। और यह भी समझ में नहीं आता था कि विना देखे-सुने 'विरह-वर्णन' कैसा? यदि मुझे वह जानती नहीं, तो ऐसा दोहा क्यों लिखा? क्या मुझे खिझाने के लिये?

उसके मन की थाह कैसे मिले? मुझे अपने मन की ही थाह न थी, फिर विना जाने-बूझे दूसरे के मन की बात कैसे मालूम हो?

पत्र लिखने में तो संकोच अवश्य था, किंतु लेख लिखना तो संपादक के लिये उपकार ही था—"परोपकाराय सतां विभूतयः" का स्मरण कर मैंने एक लेख हिंदुओं के 'रसायन-शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान' पर लिख भेजा, जिसमें 'पारे को मारने की विधि' का भी उल्लेख था।

प्रकाशित लेख देखने के लिये तो इतना उत्सुक न था, वरन् वास्तविक उत्सुकता थी 'आगामी दोहे' के लिये। 'ज्योति' की मैं ऐसी प्रतीक्षा करने लगा, जैसी कि कोई अंधकार में पड़ा हुआ मनुष्य अरुणोदय की। नियमानुसार ज्योति की किरण आई, किंतु यहाँ 'अंधकार' और भी अधिक बढ़ गया। अब की बार दोहे के स्थान में एक ग़ज़ल थी, उसको देखकर मैं वास्तव में भयभीत हो गया। वह ग़ज़ल इस प्रकार थी—

"न मारा आपको जो खाक हो अकसीर बन जाता;
अगर पारे को ऐ अकसीर गर मारा तो क्या मारा।"

इसमें शिक्षा थी। यद्यपि शिक्षा की सराहना करनी चाहिए थी, किंतु मैं तो यहाँ दूसरी शिक्षा में दीक्षित होता जा रहा था। इधर मनोवैज्ञानिक खोज के लिये उससे मिलने की उत्कट इच्छा और उधर मन मारने का उपदेश! हिंदू था, मन की भी हत्या न कर सका, हाँ, थोड़ा-बहुत उद्योग अवश्य किया था; किंतु उसका उल्टा ही फल हुआ। मन तरल है, तरल पदार्थों पर जितना दबाव डाला जाता है, उतना ही जोर बढ़ता है।

अस्तु, अब की बार मैंने अपने को अग्रसर बनाना चाहा ऐसा विषय खोजा, जिसके सहारे कुछ प्रेम-कथा भी चल सके ऐसा विषय आकर्षण के अतिरिक्त और कौन था? यद्यपि यह लेख वैज्ञानिक था, तथापि इसमें थोड़ा काव्य को भी स्थान खींच-तानकर दिया गया। अब मेरी मौलिकता की गति काव्य

और श्रृंगार के अनोत्पादक एवं निष्फल प्रलाप की ओर जाने लगी थी।

यद्यपि मैं इस पागलपन में प्रवेश कर चुका था, तथापि मैं अपनी सावधानी और पागलपन की अवस्थाओं में भेद कर सकता था; इतना पागलपन न था कि पागलपन को सावधानी कहूँ। मैं शपथ करके यह भी नहीं कह सकता था कि मेरा यह भेद करना पागलपन का अंग नहीं, निदान यह लेख भी छपने भेज दिया गया। अब की बार पत्र की प्रतीक्षा बड़ी प्रबल रूप से हो उठी। पत्रिका प्रायः पंद्रह या सोलह तारीख तक आती थी। मैं दस तारीख से ही पोस्टमैन को चातक-दृष्टि से देखने लगा। "ज्योति" प्रकाशित हुई। उसके प्रकाश में हृदय का कमल विकसित हो उठा। पत्रिका में तो कोई ऐसी विशेष बात न थी, किंतु इस बार के दोहे में प्रेम की पुकार स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगी। दोहा इस प्रकार था—

"जे चेतन ते क्यों तजै, जाको जासो मोह;
चुंबक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह।"

—बृंद

वास्तव में मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा लेख इस दोहे के बिना अपूर्ण था। यह दोहा मुझे ही लिखना चाहिए था। 'वृंद' का नाम मैंने शिक्षावली में पढ़ा था और मैं यह समझता था कि "वृंद" की कविता बालक-बालिकाओं के लिये होगी। मैं यह नहीं जानता था कि यह कविता मेरे जीवन में इतना परि-

वर्नन डाल देगी। जो मूर्खता सब प्रेमियों में होती है, उसने मेरे हृदय में भी सिक्का जमा लिया। मेरी वैज्ञानिक कल्पनाएँ चक्र-नेमी-क्रमेण लौट-पलट होने लगीं। कहाँ तो समझता था कि मनुष्य-शरीर में स्फूर्ति और उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये जल-वायु के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं और कहाँ ज़रा-सा दोहा नाच नचाने लगा! मेरा मन बल्लियों उछलने लगा। दोहे को लेख की पूर्ति न समझकर प्रेम-पत्र का उत्तर समझा। इस उत्तर के आगे मैं निरुत्तर था।

बहुत सोचने-विचारने पर यह निश्चय हुआ कि किसी प्रकार 'ज्योति' के आफिस में लेखिका का पता लगाकर उससे साक्षात् करना चाहिए। इतने में बिल्ली के भाग्य से छींका टूट पड़ा। मैं प्रयाग की युनिवर्सिटी से कनवोकेसन के लिये निमंत्रित किया गया। निमंत्रण को ईश्वरीय कृपा का फल समझ प्रयाग गया। यद्यपि मैं अपने बाहरी वेष-भूषा की अधिक चिंता न करता था, तथापि इस समय में थोड़ी बहुत सज-धज के साथ गया था।

कनवोकेसन की मीटिंग समाप्त होते ही तुरंत मैं आशा-दीप की ज्योति से प्रकाशित 'ज्योति' के आफिस में गया। पहुँचते ही संपादक महोदय से मिलने का विचार प्रकट किया। भीतर बुलाया गया। देखा तो एडीटोरियल कुर्सी के पास ही एक रमणीरत्न विराजमान है। तुरंत ही समझ गया कि अनायास ही मेरी खोज पूर्ण हो गई। संपादक महोदय से मेरे लेखों में जो

छापे की भूलें रह जाती थीं, उनके बारे में बातचीत करने लगा। इतने में जो रमणी वहाँ उपस्थित थीं, उन्होंने कहा कि क्या आप ही प्रोफेसर रमाकांत त्रिपाठी हैं? हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए बड़े विनम्र-भाव से मैंने कहा—जी हाँ, मुझ ही को रमाकांत त्रिपाठी कहते हैं। इतना पूछे जाने पर मुझे भी संपादक महोदय से यह कहने का साहस हुआ कि 'यह देवीजी कौन हैं?' इनका परिचय करा दीजिए। संपादक महोदय ने बड़े गम्भीर-भाव से कहा कि यह यहाँ के स्थानीय वकील पं० गिरिजा-दत्तजी शुक्ल की ज्येष्ठ कन्या श्रीमती प्रमोदबाला देवी हैं। आप मेरी कन्याओं के साथ पढ़ी हैं और उनसे बड़ी घनिष्ठता रखती हैं। यह 'ज्योति' में भी कभी-कभी कुछ लिख देती हैं। आपने इसी वर्ष साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा पास की है। इतना परिचय पाने पर मैंने उनसे पूछा कि क्या आपको विज्ञान से रुचि है? उन्होंने उत्तर दिया कि जी हाँ, कुछ विज्ञान-संबंधी लेख 'ज्योति' में निकलते रहते हैं, उनको पढ़ा करती हूँ और विशेष अध्ययन तो नहीं किया है। मैंने अपनी वैज्ञानिक आत्मा के आत्म-गौरव को दबाकर कहा कि वैज्ञानिक कुशलता अध्ययन से ही नहीं आती, वरन् इसमें प्रतिभा की भी आवश्यकता है। प्रतिभा और स्फूर्ति आपमें स्वभाव से प्राप्त है। यदि आपको कुछ वैज्ञानिक पुस्तकों की आवश्यकता हो, तो उनको मैं आपकी सेवा में भेजना अपना परम सौभाग्य समझूँगा। यदि आप आज्ञा देवें, तो कभी-कभी नए वैज्ञानिक साहित्य के संबंध में

आपको सूचना देता रहूँगा। उन्होंने निज श्रीमुख से सुधा-मय शब्दों में मुझे वचन दे दिया कि आपके सूचना-पत्रों को मैं हर्ष के साथ पढ़ूँगी। इतना वचन पाकर मैंने अपना भाग्य सराहते हुए आफ़िस से बिदा ली। मैं और भी ठहर जाता, किंतु छः बज चुके थे। मैं यह नहीं चाहता था कि संपादक महोदय को क्षमा माँगने की अशिष्टता करनी पड़े और अपनी प्रेयसी की दृष्टि में मैं असभ्य समझा जाऊँ। मैं घर आकर पत्र लिखने का अवसर खोजने लगा। चार-पाँच रोज़ तो जैसे-तैसे काटे। इतने में भाग्य से एक लेख के संबंध में प्रमोदबाला देवी का फोटो 'ज्योति' में प्रकाशित हुआ, और इसने प्रेमाग्नि को और भी प्रचंड कर दिया। अब और दूसरे अवसर के लिये न ठहर सका बस, निम्नलिखित पत्र लिखकर बड़े हृदय कंप के साथ लेटरबॉक्स में डाल दिया—

आकर्षण केंद्र,

जब से आपके उज्ज्वल अतएव बिंब प्रतिक्षेपक मुखमंडल पर से सूर्य की रश्मियों ने प्रतिफलित होकर मेरे नेत्रांतर स्थित चित्र-पटल को क्षुब्ध कर अक्षि-संबंधिनी स्नायु द्वारा मेरे मस्तिष्क को तरंगित कर दिया है (किंतु वह तरंगें ऐसी थीं जो कि सब तरंगों के साथ साम्य स्थापन कर सकीं, अतः वह मेरे लिये अत्यंत सुखद हुईं), तब ही से मेरे मन के प्रेम-संस्कार जो अभी तक अनुद्बुद्ध अवस्था में सुप्त पड़े थे, जाग्रत हो गए हैं। आपके मुख और शरीर का कटाव ऐसा सुडौल है कि उसका

घटाव-बढ़ाव कोण-शून्य, वृत्ताकारक और क्रमागत होने के कारण नेत्र-संबंधिनी मांस-पेशियों को अधिक परिश्रम नहीं देता। अभी हाल में 'ज्योति' में प्रकाशित 'ज्योति' का नाम सार्थक करनेवाला एक छाया चित्र देखने के कारण मेरे मस्तिष्क में अंकित विचार-पथों में संचालन उत्पन्न हो गया है, और मेरा मस्तिष्क उन साम्योत्पादक स्फुरणों को, जिनको कि वह पूर्व में अनुभव कर चुका था' द्वितीय बार अनुभव करने को लालायित हो उठा है। जब ईथर की तरंगों द्वारा आपका संबंध इतना सुखद हुआ है, तब आपका निकटतर स्पर्श मुझको स्वर्ग-सुख की चरम सीमा को पहुँचा देगा। किंतु ऐसा भाग्य कहाँ? नहीं, मेरा भाग्य आप ही के हाथ में है। यदि आप मुझे स्वीकार करने की आशा दें, तो आपके पूज्य पिताजी से मैं पत्र का व्यवहार करूँ। मेरे दुःसाहस को क्षमा कीजिएगा। मैंने आपकी आज्ञा का दुरुपयोग किया है। रजिस्टर्ड पोस्ट द्वारा मैं एक अपना लिखा हुआ नवीन ग्रंथ भी आपकी शुभ सम्मति के लिये भेज रहा हूँ।

क्षमा-प्रार्थी
'वैज्ञानिक'

पत्र पर नाम और पता लिखने की आवश्यकता न थी, क्योंकि मेरी पुस्तक में यह सब बातें मौजूद थीं। यद्यपि मैं उत्तर के लिये उत्सुक था, तथापि मैं अपने को इस सुख से कि मेरा पता खोजने का कष्ट उठाया गया, वंचित नहीं करना चाहता था।

यथासमय उत्तर आया। कंपित कर से लिफ़ाफ़ा खोला, किंतु पत्र खोलते ही मेरे भाग्य का द्वार-सा बंद हो गया। पत्र इस प्रकार था—

महाशय,

आपका पत्र एवं ग्रंथ दोनों प्राप्त हुए। पुस्तक के लिये धन्यवाद! पत्र पुस्तक से कम वैज्ञानिक न था। आपने पत्र में जो प्रस्ताव किया है, उसके संबंध में अपनी विचार-धारा को प्रवाहित करने का कष्ट न उठाइए। आपकी प्रेम-पिपासा के लिये मुझे हार्दिक सहानुभूति है और मैं ईश्वर से प्रार्थना करूँगी कि आपके रेखागणित-संबंधी मनोवैज्ञानिक आदर्श का पूर्ण करनेवाली कोई सुशीला, सुशिक्षिता महिला आपको प्राप्त हो जावे।

यदि आप क्षमा करें, तो मैं आपके भविष्य के अर्थ थोड़ा उपदेश दूँगी। वह यह कि यदि आप सच्चे प्रेमोपासक बनना चाहते हैं, तो यह उपासना वैज्ञानिक प्रयोगशाला में सफल न होगी। इसके लिये आप किसी साहित्य-सदन की शरण में जा, सरस साहित्य की सेवा और ललित कलाओं का अनुशीलन कीजिए। ईश्वर आपकी मनोकामना पूर्ण करेगा। मेरे विषय में तो पिताजी पहले से ही निश्चय कर चुके हैं।

'प्रमोदबाला'

ठलुआ-क्लब की सातवीं बैठक

सिद्धांती

सिद्धांती

माननीय ठलुआ-वृंद !

इस क्लब की मेंबरी की एक यह शर्त है कि प्रत्येक मेंबर को अपना जीवन-वृत्तांत बतलाना पड़ता है। यद्यपि मैं समझता हूँ कि मेरा जीवन बहुत सफल नहीं है, तथापि उसके सुनने से आप लोगों को अवश्य लाभ होगा। "महाजनो येन गतः स पन्थाः।" मैं महज्जन होने का तो दावा नहीं करता, किंतु लघु-जनों से भी बहुत लाभ हो सकता है। किसी फ़ारसी कवि ने कहा है कि "अक़्लमंदी मैंने बेवक़ूफ़ों से सीखी है।" पर आप मेरे जीवन-वृत्तांत से लाभ उठा सकेंगे। विना लाभ के मेरे लिये भाषण करने का कष्ट उठाना वृथा होगा। मेरी राय में कोई अनुपयोगी कार्य करना अपने समय को व्यर्थ ही नष्ट करना है। आप कहेंगे कि यह सिद्धांत ठलुआ-पंथी की जड़ को

काटते हैं। नहीं, हमारी ठलुआ-पंथी भी उपयोगिता से शून्य नहीं। इस ठलुआ-पंथी से हमारे मस्तिष्क को आराम मिलता है और विचारों का प्रवाह चलने लगता है। मुझको आप इस क्लब का द्रोही भले ही समझें और चाहे मेरे बहिष्कार का भी प्रस्ताव पास कर दें, तथापि मैं यह कहे बिना न रहूँगा कि किसी काम को, बिना उसकी उपयोगिता जाने, कहना महापाप है।

मुझे एक कुलीन घराने में पैदा होने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। इसको मैं दुर्भाग्य यों कहता हूँ कि ऐसे लोग प्रायः आलसी होते हैं; और निर्धन होकर भी अपने पूर्व-कुल-गौरव के विचारों ही में मग्न रहते हैं तथा अपने विषय में कोई बात ऐसी नहीं करके बता सकते कि जिससे उनके भी बाल-बच्चे उनकी गुण-गाथा गाया करें। यह सिद्धांत मुझे बाल्यावस्था में तो नहीं मालूम था, यदि होता तो मैं कुलीनता को तिलांजलि देकर किसी अछूत के घर वास कर, अपनी आत्मा को सबल बनाने का प्रयत्न करता।

जब कालेज में जाकर मुझे स्वावलंबन का उपदेश मिला, तब मेरा वाल्मीकि की भाँति नेत्रोन्मीलन हुआ। मैंने सोचा कि दूसरे के परिश्रम द्वारा उपार्जन किए हुए धन से लाभ उठाना हाथ-पैर चलानेवाले मनुष्य के लिये बहुत लज्जा का विषय है।

कालेज के भ्रष्टाचार और शिष्टाचारमय जीवन से मेरी पहले ही अरुचि हो चुकी थी। मैं एक कट्टर हिंदू-परिवार से आया था। यद्यपि मैं जानता था कि मैं ब्राह्मण-कुल में जन्मा

हूँ। और वह भी कान्यकुब्जों में, जिनके यहाँ वैसे ही "आठ कनौजिया और नौ चूल्हे" का सिद्धांत रहता है, फिर मैं तो वाजपेयी होने का गौरव रखता था। मेरे लिये बोर्डिंग हाउस में रहकर दूसरे घर के कान्यकुब्ज के हाथ की रोटी ही खा लेना बहुत लज्जाजनक बात थी। मेरे पिताजी ने मेरे कालेज जाने से पूर्व अश्रुपात कर मेरे पथ को अशुभ बना दिया था। उनको और किसी बात की चिंता न थी, केवल इसी बात की चिंता थी कि मुझे दूसरे ब्राह्मण के हाथ की बनाई रोटी खानी पड़ेगी। ऐसे घराने से आकर छूत-छात के संस्कार किस प्रकार धुलकर साफ़ हो जाते? ज़रा लोगों को मालूम हो गया कि मुझे इस बात की परवाह है, बस, वहीं मेरी छेड़-छाड़ आरंभ होने लगी। सब लोग तो बीसवीं शताब्दी की सभ्यता में दक्ष थे और मेरी रहन-सहन "जिमि दंतन में जीभ विचारी"-सी हो रही थी। कहीं तो लोग मेरी पंडिताई, चोटी की हँसी उड़ाते, कहीं तिलक के कारण मेरे माथे को दीवाल से उपमा देने लग जाते। मेरी पूजा को 'ईश्वर को बहकाना' कहते। लोगों की छेड़-छाड़ का उलटा ही प्रभाव पड़ा। इन बातों में मेरा विश्वास और भी दृढ़ होता गया। मेरा ऐसा विचार हो गया कि यह सब बातें हमारी जातीयता के अंग हैं और मैं इनको एक विदेशी सभ्यता के निमित्त क्यों छोड़ूँ? इधर पूजा-पाठ और खान-पान की छूत-छात में मेरी श्रद्धा बढ़ गई, उधर उन लोगों की छेड़-छाड़ बढ़ती ही गई। इसका परिणाम

यह हुआ कि मेरा जी बोर्डिंग हाउस से ऊब गया और बोर्डिंग-वाले मुझसे उकता गए। ऐसी स्थिति में मैंने बोर्डिंगहाउस छोड़ना ही श्रेयस्कर समझा। पिताजी के बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी मैंने एक न मानी।

सिद्धांत के लिये माता-पिता की आज्ञा न मानना पाप नहीं है। प्रह्लाद का ज्वलंत उदाहरण मेरे सम्मुख वर्तमान था। कालेज छोड़कर स्कूल में नौकरी कर ली। अध्यापकी की अवस्था में ही मैंने बी० ए० की उपाधि प्राप्त कर ली। यह उपाधि प्राप्त कर लेने पर रोजगार की समस्या उपस्थित हुई। पैतृक संपत्ति की मेरे पास कमी न थी, किंतु उस धन से मुझे पहले ही घृणा हो चुकी थी। सरकारी नौकरी करके दासत्व स्वीकार करना भी मैंने अपने लिये श्रेयस्कर न समझा। वकालत करना मेरे सिद्धांतों के प्रतिकूल था, क्योंकि इसमें अपनी बुद्धि का धन के लिये दुरुपयोग करना पड़ता है और कभी-कभी भाई को भाई से और पिता को पुत्र से लड़ना पड़ता है।

मेरे घर लेने देने का व्यवसाय होता था, किंतु मैं उसको भी निंद्य समझता था; क्योंकि जो उधार लेता है, वह स्वयं आफ़त का मारा होता है, उससे ब्याज लेना या उसका माल कुर्क कराना मैं घोर पाप समझता था। फिर मुझे "उत्तम खेती मध्यम बान"-वाली उक्ति का स्मरण आया। उस समय कृषि के स्कूल तो खुले न थे; नहीं तो मैं उनमें पहले शिक्षा प्राप्त कर अपना

कार्यारंभ करता। मैंने कृषि-संबंधिनी दो-चार पुस्तकें पढ़ खेती का काम आरंभ कर दिया। यद्यपि मुझे अपने देश के किसानों की परिश्रम-शीलता का विशेष आदर था, तथापि मैं यह समझता था कि यह लोग पुरानी लकीर के फ़क़ीर हैं और इस पद्धति पर कार्य करने से मैं देश का विशेष उपकार न कर सकूँगा। मैंने नए लोहे के हल मँगवाए, विलायती खाद भी डलवाई, किंतु बैल अच्छे न होने के कारण उससे यथेष्ट लाभ न उठा सका। इस पर भारत की निर्धनता और अपने देशवालों के अनुद्योगीपन पर मुझे बहुत तरस आया। मैं समझता था कि यदि धनवान् लोग अपना रुपया कृषि-कार्य में लगा दें, तो भारत की सारी आर्थिक समस्या हल हो जावे। और यह देश फिर से "शस्यश्यामला" हो जावे तथा इसमें दूध एवं घी की नदियाँ बहने लगें। मैं अकेला क्या कर सकता था। एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता; किंतु उसी के साथ मुझे "टिटिहिरी की कथा" की याद आ गई। कालेज में पढ़ी हुई स्माइल साहब की (Self-help) सेल्फ हैल्प (स्वावलंबन) को भी न भूला था। "हिम्मते मर्दां, मददे खुदा" का आदर्श रख मैंने पहले वर्ष के नुक़सान को तुच्छ समझकर एक साल और कठिन परिश्रम के साथ उद्योग करने का संकल्प किया। मित्रों ने मुझे यह भी समझाया कि कृषि-कार्य आकाशी वृत्ति है, इस में पद-पद पर हानियाँ होने की संभावना रहती है। "हरी खेती और ग्याभिन गाय, तब जानिए जब मुँह तक जाय" ऐसी-ऐसी

कहावतें और अति वृष्टि, अनावृष्टि आदि ईतियों का भय दिखलाकर मुझे हतोत्साह करना चाहा, किंतु मैं गो० तुलसीदासजी के—

"कादर मन कहँ एक अधारा ; दैव-दैव आलसी पुकारा ।"

के सिद्धांत पर अटल बना रहा ।

"उद्योगिनं पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैंवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ;
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ।"

यह श्लोक मेरे कानों में गूँजने लगा । मैंने सोचा कि ये उक्तियाँ उस काल की हैं जब कि नहर और अन्य वैज्ञानिक साधन उपलब्ध न थे । ऐसा कहने में प्राचीन भारत कलंकित हुआ जाता है । नहीं, नहीं, यह मेरी भूल थी । महाराज दिलीप ने ही अपने समय में ईतियों को नष्ट कर कृषि को अदैवमात्रिक कर दिया था । सार यह है कि उद्योग और परिश्रम के आगे कोई भी आपत्ति नहीं ठहर सकती ।

मैंने कृषि-उन्नति के हेतु केवल कृषि-सम्बन्धी ज्ञान ही नहीं उपार्जन किया, वरन् कृषि-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले वनस्पति-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र, भूगर्भ-विद्या, रसायन-शास्त्र आदि विज्ञानों का अध्ययन किया । इस अध्ययन में मेरा समय अधिक व्यतीत होने लगा और जो प्राकृतिक घटनाओं से युद्ध करने का विचार था, वह विचार-रूप में ही रह गया, किंतु मैंने उस समय को वृथा नहीं समझा ; क्योंकि वास्तविक सफलता निकट-

वर्तिनी सफलता नहीं होती—मनुष्य को सदा अपने आगे देखना चाहिए। मूर्ख लोग ही अपनी नाक के आगे नहीं देख सकते। यदि अँगरेज लोग पहली असफलता से हताश होकर विलायत लौट जाते, तो भारत का साम्राज्य कहाँ से पाते ?

मैंने एक वर्ष और भाग्य-परीक्षा करने का संकल्प किया। परीक्षा तो की ही, किंतु मैं अपने सिद्धांतों से मजबूर था। मैं मनुष्य को गौरव की दृष्टि से देखता था। नौकरों को मैं अपने ही समान ईमानदार समझता था। यह भी जानता था कि विश्वास से ही विश्वास उत्पन्न होता है। मैंने नौकरों की ईमानदारी पर पूर्ण विश्वास कर सब कुछ उनके ऊपर छोड़ दिया था और मैं अपनी वैज्ञानिक गवेषणा में लगा रहता था। नित्य ही खेत पर जाता और नौकरों को एक-न-एक कोई नवीन बात बतला जाता। बड़ी अच्छी-अच्छी रविश-पट्टी बनवाई एवं वर्तमान-वैज्ञानिक खाद दिए। सब कुछ किया, किंतु खेत कटते समय मैं एक सभा के लिये कहीं अन्यत्र चला गया। मेरे अनुमान से उपज चौथियाई भी न हुई। नौकरों ने तो मेरी वैज्ञानिकता को दोष दिया, घरवालों ने मेरी लापरवाही को बुरा-भला कहा और मित्रों ने मेरे सीधेपन की हँसी उड़ाई। मुझे इस बात पर झुँझलाहट थी कि मैं अपने वैज्ञानिक सिद्धांतों को प्रमाणित न कर सका। एक बार मैं यह दिखला देता कि वैज्ञानिक पद्धति के अवलंबन से चालीस गुनी निश्चित उपज होती है, फिर चाहे इसकी खुशी में सारी

उपज लुटा देता, तो मुझे कण-मात्र भी खेद न होता। मेरा आदर्श मेरे गाँववाले मानने लग जाते, इससे बढ़कर मेरे लिये कोई धन न था।

मैं वास्तव में खेती को ही अपना धन समझता था। एक समय मेरे पिताजी ने मुझसे पूछा कि तुम्हारे पास कुछ रुपया जमा हुआ या नहीं, तो मैंने उत्तर दिया कि मेरा धन खेतों में जमा हुआ है। निदान वह सब जमा मिट्टी में मिल गई। घरवालों ने मुझे इस कार्य से विराग करने के लिये सलाह दी। यदि कुछ लाभ होता, तो मैं निर्भय होकर उनकी आज्ञा का विरोध करता। जब विरोध करता, तो किस आधार पर; किस बिरते पर तत्ता पानी?

इतने में लीडर में एक विज्ञापन निकला कि एक देशी राज्य में एक कृषि-शास्त्र के ज्ञाता सेक्रेटरी की आवश्यकता है। यद्यपि मैंने कोई कृषि-संबंधिनी परीक्षाएँ पास नहीं की थीं (उस समय कृषि-कालेज खुल गए थे। तथापि मैंने कई कृषि-संबंधी लेख मासिक पत्रिकाओं में लिखे थे। अपने प्रार्थना-पत्र के साथ मैंने वह लेख भी भेज दिए) मेरी प्रार्थना स्वीकृत हुई और १२५) मासिक वेतन पर मेरी नियुक्ति हो गई। मेरे मित्रों ने कहा था कि आरंभ में सेकिंड क्लास में जाना, किंतु मैं सुन चुका था कि इँगलैंड के प्रधान मंत्री ग्लैंडस्टन महोदय तीसरे दर्जे में इस कारण से सवार होते थे कि कोई चौथा दर्जा था ही नहीं। यह बात कहाँ तक प्रमाणित

है, मैं कह नहीं सकता। मैं अपने नियम का पक्का, भला अपने संकल्प से कब हट सकता था ? मुझे महाराज भर्तृहरि के वचन याद आ गए-"निन्दन्ति नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्ति"

मैं तीसरे दर्जे ही में गया। राज्य से मेरे स्वागतार्थ दो-तीन भले आदमी आए, उनमें से मेरे एक एसिस्टैंट भी थे। वह लोग मुझे सेकिंड तथा फर्स्टक्लास में खोजकर निराश हो वापस लौट गए और अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करने लगे। जो मोटर मेरे लिये लाए थे, मेरे ही पास से हार्न देते हुए निकल गई। मैं भी एक थर्ड क्लास ताँगा करके राज-द्वार पर गया। वहाँ पर एक ए० डी० सी० से भेंट हुई। स्टेशन पर सवारी न पहुँचने के कारण देशी राज्यों के इन्तिज़ामों से कुछ अरुचि हो गई थी और फिर ए० डी० सी० महोदय की उपेक्षा-जनक बात-चीत सुनकर मुझे अपना भविष्य अंधकारमय दिखाई पड़ने लगा। "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" की बात याद आ गई। अस्तु, अपने भावी स्वामी से विना मिले ही लौट जाना मूर्खता समझी। मैंने सोचा कि यदि एक बार पैर जम गए तो ए० डी० सी० महोदय को समझ लूँगा, इसलिए नहीं कि उन्होंने मेरा अपमान किया है, वरन् इसलिये कि फिर दूसरों का अपमान न करें। उनको मैंने अपनी नियुक्ति का आज्ञा-पत्र दिखाया था। उसको साथ लाना मैं भूला नहीं था। उसको देखकर उनका दृष्टि-कोण कुछ बदला। एक सिपाही साथ कर दिया और मुझे अतिथि-सेवा-गृह में भेज दिया। नाम अतिथि

सेवा-गृह था, किंतु वहाँ केवल तिथिवालों की ही पहुँच थी, मेरे लिये जो प्रबंध किया गया था वह अनुकूल न था। जैसे-तैसे दो-चार दिन वहीं काटे।

मेरी नियुक्ति के जाप्ते का हुक्म निकल गया। मुझे रहने को मकान, सवारी और दो-एक नौकर भी मिल गए। यद्यपि मैं स्वयं काम करने का पक्षपाती था, दूसरों की सेवा के लिये नहीं। कम-से-कम अपनी सेवा के लिये स्वयंसेवक था, किंतु स्वयंसेवक अर्थात् अपनी हजामत आप ही बना लेनेवाला तो न था, तथापि तीन नौकरों को देखकर मेरा आत्म-गौरव संतुष्ट हो गया और पिछले अपमान को भूल-सा गया और क्षमा धारणकर रूपवान् तपस्वी बन गया। किंतु वह तपो-भूमि न थी, वह राज्य था और मैं तपस्वी न था, ब्राह्मण अवश्य ही था 'असंतुष्टा द्विजा नष्टा' ठीक है, किंतु उसके साथ 'संतुष्टश्च महीपतिः' का वाक्य भी है। महीपति की सेवा में रहकर मैं भी धीरे-धीरे अपने को महीपति समझने लगा। इधर तो मैं अपने ब्राह्मणपने का गौरव भी नहीं छोड़ना चाहता था, उधर अधिकार की महत्त्वाकांक्षा बढ़ने लगी। यह मैं आप लोगों को बतला देना चाहता था कि अधिकार की इच्छा अधिकार के अर्थ न थी, वरन् सुधार के लिये। मैं समझता था कि रियासतों की जो बदनामी होती है, वह अच्छे अधिकारी न होने के कारण ही होती है। अधिकारी-वर्ग से मेरा संग्राम प्रारंभ तो हो गया। बात-बात में मत-भेद होने लगा। वहाँ का अपव्यय जिसको

वह लोग आवश्यक समझते थे ; मैं उसको नितांत अनावश्यक समझता था ; क्योंकि वह केवल अनुपयोगी ही न था, वरन् हानि-कारक था। कुछ लोग कहने लगे कि राज्य तुम्हारी भाँति भिखमंगा ब्राह्मण नहीं है। इस बात में केवल मत-भेद ही न था, वरन् इसमें जाति का अपमान भी लगा हुआ था। महात्मा तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है। "सबसे अधिक जाति अपमाना।" मैं धार्मिक था, पर मुझमें न तो विष्णु भगवान् की सहनशीलता थी ? जो भृगुजी के लात मारने पर उनके पैर की कुशल पूछने लगे और नील-कंठ शिव की-सी शक्ति भी न थी जो विष के घड़े को पी जाता। मैं साधारण मनुष्य भी न था कि जिनकी कर्ण-कंदराओं में ऐसे अपमान-जनित वाक्य सहज ही में विलीन हो जाते हैं। मेरी नाड़ियों में विश्वामित्र ! नहीं, मैं भूल गया वह क्षत्रिय थे, मैं जाति को जन्म से मानता हूँ, (शास्त्र भी अप्रमाणित बात कहें, न मानूँगा) अगस्त्य और दुर्वासा का रुधिर बहता था। मैंने भी खूब उलटी-सीधी सुनाई। यद्यपि मैं जानता था कि नौकर होकर इतना अभिमान शोभा नहीं देता, तथापि मैं अपने को सिंह से कम नहीं समझता था। जो अपने अन्न-दाता की ओर घुर्राया ही करता है। अस्तु, उस दिन का झगड़ा जैसे-तैसे तय हो गया, किंतु उन लोगों ने विष वमन करके विष का अंत नहीं कर दिया। वह रक्तबीज की भाँति बढ़ता ही गया। इस लड़ाई का लाभ न उठाकर

वह लोग मेरे निकालने के लिये और अच्छे अवसर की खोज करने लग गए। वह लोग इतना जानते थे कि इस झगड़े पर मैं न निकाला जा सकूँगा, क्योंकि इसमें वह लोग भी निर्दोष न थे।

अवसर के लिये बहुत दिन न ठहरना पड़ा। महाराज की वर्ष-गाँठ में दरबार हुआ, वहाँ पर नाच होनेवाला था, नाच में जाना मेरे सिद्धांतों के विरुद्ध था। मैं दरबार में न गया, मेरी शत्रु-मंडली को एक सुवर्णावसर प्राप्त हो गया। उन्होंने मेरी शिकायत की। स्वामिभक्त राज्यों में प्रधान गुण समझा जाता है। 'मुझमें इसका अभाव बतलाया गया। महाराज साहब अपने दरबारियों की भाँति मूर्ख न थे। जब मैंने अपना सिद्धांत उनको बतलाया, उन्होंने मुझे क्षमा कर दिया। खल-मंडली अपना-सा मुँह लेकर रह गई। मैं अपने ही स्थान में निर्भयता से रह सकता था, किंतु कुछ इस विरोध के कारण और कुछ महत्त्वाकांक्षा के कारण मैंने दूसरे विभाग में जाने की इच्छा की। भाग्य से वहाँ के ज्यूडीशल अफ़सर (Judicial Officer) ने छः मास की छुट्टी ली थी। मैं इस बीच में एक स्पेशल मजिस्ट्रेट (Special Magistrate) बन ही चुका था और अच्छे आदमी के अभाव में मुझे ज्यूडीशल अफ़सर (Judical Officer) बना दिया गया। मैं इस पद के अयोग्य भी न था; क्योंकि मैं एम्० ए० के साथ ही ला लैक्चर्स (Law Lectures) में शामिल

हुआ था और मैं यह भी समझता था कि मुझ ऐसे न्याय-प्रिय हाकिम से जनता का बहुत कुछ उपकार होगा। मैंने लौकिक, आध्यात्मिक (मैंने थियॉसोफी के कुछ ग्रंथ पढ़े थे और कुछ अभ्यास किया था) और मनोवैज्ञानिक नियमों के आधार पर न्याय-शासन करना प्रारंभकर दिया। एक बार एक डाके का मामला मेरे सामने पेश हुआ। उसमें जो प्रधान अभियोगी था, अर्थात् जिसके विरुद्ध सबसे जोर-दार गवाही थी, वह मेरी आध्यात्मिक दृष्टि से (उसके चेहरे पर का तेज-चक्र (Aura) निर्दोषी सात्त्विक पुरुष का-सा था) बहुत भला आदमी लगता था। पुलिस-विभाग को मैं पहले से ही अधर्म का भंडार समझता था। मैंने समझ लिया कि यह गवाही सब पुलिस ही की कार्रवाई है। मैं न्याय का यह भी सिद्धांत जानता था कि दोषी को निर्दोष ठहराना पाप नहीं, निर्दोषी को दोषी न ठहराना चाहिए। इसी कारण मैंने उसको छोड़ दिया।

पुलिस विभाग ने इस विषय में बड़ा आंदोलन मचाया। प्रधान मंत्री ने उस मुक़दमे की मिसल मँगवाई और मुझे भी बात-चीत करने को बुलाया। मैंने अपने सिद्धांत बतलाए और उन तेज-चक्र-संबंधी वैज्ञानिक सिद्धांतों को बतलाकर उनकी जड़ता दूर करनी चाही, किंतु उन्होंने मुझे बड़ी दृढ़ता के साथ कहा कि मैं यह नहीं कहता कि आपके सिद्धांत झूठे हैं, परंतु न्यायालय उसके उद्घाटन करने का स्थान नहीं है।

यदि आप उनका प्रचार करना चाहते हैं,तो मेरे नीरस मस्तिष्क से कोई अधिक उपजाऊ भूमि की खोज कर लीजिए।

स्वाभिमानी पुरुष के लिए यह काफ़ी इशारा था कि मैं त्याग-पत्र दे दूँ। मुझे महाराज की ओर से भी संदेशा आया कि मैं होशियारी से काम करूँ और त्याग-पत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। किंतु मैं कब अपनी मूर्खता स्वीकार करने को तैयार था। मैं ऐसे स्थान में एक मिनिट भी रहना नहीं चाहता था, जहाँ मेरे सिद्धांतों की पूछ न हो। मैं तो समझता था कि जिन नूतन सिद्धांतों का प्रचार बृटिश इंडिया (British India) में न हो सका, उनका प्रचार कर मैं एक देशी राज्य को उन्नति के पथ पर अग्रसर कर सकूँगा, किंतु क्या किया जाय भारतवर्ष का दुर्भाग्य! रोगी का जब भाग्य अच्छा होता है, तब ही डाक्टर की बात सुनता है।

मैं वहाँ से लौटकर आपके क्लब का सदस्य हो गया हूँ। क्योंकि मैं समझता हूँ कि आप लोगों के मस्तिष्क फ़ुरसत की खाद से संसार की काया-पलट करनेवाले सिद्धांतों के लिये उर्वराभूमि का काम देंगे और यह क्लब संसार में ही स्वर्ग-लोक स्थापित करने में सहायक होगा। भावी भारत-संतान आप लोगों को आशीर्वाद देगी।

ठलुआ-क्लब की आठवीं बैठक

आलस्य-भक्त

आलस्य-भक्त

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥

प्रिय ठलुआ-वृंद ! यद्यपि हमारी सभा समता के पहियों पर चल रही है और देवताओं की भाँति हममें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, तथापि आप लोगों ने मुझे इस सभा का पति बनाकर मेरे कुँआरेपन के कलंक को दूर किया है। नृपति और सेनापति होना मेरे स्वप्न से भी बाहर था। नृपति नहीं तो नारीपति होना प्रत्येक मनुष्य की पहुँच के भीतर है, किंतु मुझ-ऐसे आलस्य-भक्त के लिये विवाह में पाणिग्रहण तक का तो भार सहन करना गम्य था। उसके आगे सात बार अग्नि की परिक्रमा करना जान पर खेलने से कम न था। जान पर खेलकर जान का जंजाल खरीदना मूर्खता ही है "अल्पस्य हेतोर्बहु-

हातुमिच्छन्, विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्" का कथन मेरे ऊपर लागू हो जाता। "ब्याहा भला कि क्वाँरा"-वाली समस्या ने मुझे अनेकों रात्रि निद्रादेवी के आलिंगन से वंचित रक्खा था, किंतु जब से मुझे सभापतित्व का पद प्राप्त हुआ है, तब से यह समस्या हल हो गई है। आलसी के लिये इतना ही आराम बहुत है। यद्यपि मेरे सभापति होने की योग्यता में तो आप लोगों को सन्देह करने के लिये कोई स्थान नहीं है, तथापि आप लोगों को अपने सिद्धांतों को बतला अपनी योग्यता का परिचय देना अनुचित न होगा।

वैसे तो आलसी के लिये इतने वर्णन का भी कष्ट उठाना उसके धर्म के विरुद्ध है, किंतु आलस्य के सिद्धांतों के प्रचार किए बिना संसार की विशेष हानि होगी और मेरे भी पेट में बातों के अजीर्ण होने की संभावना है। इस अजीर्ण-जन्य कष्ट के भय से मैंने अपनी जिह्वा को कष्ट देने का साहस किया है।

मनुष्य-शरीर आलस्य के लिये ही बना है। यदि ऐसा न होता, तो मानव-शिशु भी जन्म से मृग-शावक की भाँति छलाँगें मारने लगता, किंतु प्रकृति की शिक्षा को कौन मानता है। नई-नई आवश्यकताओं को बढ़ाकर मनुष्य ने अपना जीवन अस्वाभाविक बना लिया है। मनुष्य ही को ईश्वर ने पूर्ण आराम के लिये बनाया है। उसी की पीठ खाट के उपयुक्त चौड़ी बनाई है, जो ठीक उसी से मिल जावे। प्रायः अन्य सब जीवधारी पेट

केवल आराम करते हैं । मनुष्य चाहे पेट की सीमा से भी अधिक भोजन कर ले, उसके आराम के अर्थ पीठ मौजूद है। ईश्वर ने तो हमारे आराम की पहले ही से व्यवस्था कर दी है । हम ही उसका पूर्ण उपयोग नहीं कर रहे हैं ।

निद्रा का सुख समाधि-सुख से भी अधिक है, किंतु लोग उस सुख को अनुभूत करने में बाधा डाला करते हैं। कहते हैं कि सबेरे उठा करो, क्योंकि चिड़ियाँ और जानवर सबेरे उठते हैं; किंतु यह नहीं जानते कि वे तो जानवर हैं और हम मनुष्य हैं । क्या हमारी इतनी भी विशेषता नहीं कि सुख की नींद सो सकें । कहाँ शय्या का स्वर्गीय सुख और कहाँ बाहर की धूप और हवा का असह्य कष्ट ! इस बात के ऊपर निर्दयी जगानेवाले तनिक भी ध्यान नहीं देते । यदि उनके भाग्य में सोना नहीं लिखा है, तो क्या सब मनुष्यों का एक-सा ही भाग्य है ! सोने के लिये तो लोग तरसा करते हैं और सहस्रों रुपया डॉक्टरों और दवाइयों में व्यय कर डालते हैं और यह अवैतनिक उपदेशक लोग स्वाभाविक निद्रा को आलस्य और दरिद्रता की निशानी बतलाते हैं । ठीक ही कहा है—"आए नाग न पूजिए बामी पूजन जायँ।" लोग यह समझते हैं कि हम आलसियों से संसार का कुछ भी उपकार नहीं होता । मैं यह कहता हूँ कि यदि मनुष्य में आलस्य न होता, तो वह कदापि उन्नति न करता और जानवरों की भाँति संसार में वृक्षों के तले अपना जीवन व्यतीत करता । आलस्य के ही कारण मनुष्य को

गाड़ियों की आवश्यकता पड़ी। यदि गाड़ियाँ न बनतीं, तो आजकल वाष्प-यान और वायुयान का भी नाम न होता। आलस्य के ही कारण मनुष्य को तार और टेलीफ़ोन का आविष्कार करने की आवश्यकता हुई। अँगरेज़ी में एक उक्ति ऐसी है कि Necessity is the mother of invention अर्थात् आवश्यकता आविष्कार की जननी है, किंतु वह लोग यह नहीं जानते कि आवश्यकता आलस्य की आत्मजा है। आलस्य में ही आवश्यकताओं का उदय होता है। यदि आप स्वयं जाकर अपने मित्रों से बातचीत कर आवें, तो टेलीफ़ोन की क्या आवश्यकता थी? यदि मनुष्य हाथ से काम करने का आलस्य न करता, तो मशीन को भला कौन पूछता? यदि हम आलसी लोगों के हृदय की आंतरिक इच्छा का मारकोनी साहब को पता चल गया, तो शीघ्र ही एक ऐसे यंत्र का आविष्कार हो जावेगा, जिसके द्वारा हमारे विचार पत्र पर स्वतः अंकित हो जाया करेंगे। फिर हम लोग बोलने के कष्ट से भी बच जावेंगे। विचार की तरंगों को तो वैज्ञानिक लोगों ने सिद्ध कर ही दिया है। अब काग़ज़ पर उनका प्रभाव डालना रह गया। दुनिया के बड़े-बड़े आविष्कार आलस्य और ठलुआ-पंथी में ही हुए हैं। वॉट साहब ने (जिन्होंने कि वाष्प-शक्ति का आविष्कार किया है) अपने ज्ञान को एक ठलुआ बालक की स्थिति से ही प्राप्त किया था। न्यूटन ने भी अपना गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत

बेकारी में ही पाया था। दुनिया में बहुत बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ उन्हीं लोगों ने की हैं, जिन्होंने चारपाई पर पड़े-पड़े ही अपने जीवन का लक्ष्य पूर्ण किया है। अस्तु, संसार को लाभ हो या हानि हो, इससे हमको प्रयोजन ही क्या ? यह तो सांसारिक लोगों के संतोष के लिये हमने कह दिया, नहीं तो हमको अपने सुख से काम है। यदि हम सुखी हैं, तो संसार सुखी है। ठीक ही कहा है कि "आप सुखी, तो जग सुखी।" सुख का पूरा-पूरा आदर्श वेदांत में बतलाया है। उस सुख के आदर्श में पलक मारने का भी कष्ट उठाना महान् पाप है। अष्टावक्र-गीता में कहा है—

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि ;
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित्।

[षोडश प्रकरण श्लोक ४]

अर्थात् जो पुरुष नेत्रों के निमेष-उन्मेष के व्यापार (नेत्रों के खोलने-मूँदने) में भी परिश्रम मानकर दुःखित होता है, इस परम आलसी एवं ऐसे निष्क्रिय पुरुष को ही परम सुख मिलता है, अन्य किसी को नहीं।

लोग कहते हैं कि ऐसे ही आलस्य के सिद्धांतों ने भारतवर्ष का नाश कर दिया है। परंतु वह यह नहीं जानते कि भारतवर्ष का नाश इसलिये नहीं हुआ कि वह आलसी है, वरन् इसलिये कि अन्य देशों में इस आलस्य के स्वर्ण-सिद्धांत का प्रचार नहीं हो पाया है। यदि उन देशों को भी भारत की यह

शिक्षा-दीक्षा मिल गई होती, तो वे शय्या-जन्य नैसर्गिक सुख को त्याग यहाँ आने का कष्ट न उठाते। यदि विना हाथ-पैर चलाए लेटे रहने में सुख मिल सकता है, तो कष्ट उठाने की आवश्यकता ही क्या? बेचारे अर्जुन ने ठीक ही कहा था कि युद्ध द्वारा रक्त रंजित राज्य को प्राप्त करके मैं अश्रेय का भागी बनना नहीं चाहता। वह वास्तव में आराम से घर बैठना चाहते थे, किंतु वह भी कृष्णजी के बढ़ावे में आ गए और 'यशो लभस्व' के आगे उनकी कुछ भी न चल सकी। फिर फल क्या हुआ कि सारे वंश का नाश हो गया। इस युद्ध का कृष्ण भगवान् को भी अच्छा फल मिल गया। उनका वंश भी पहले की लड़ाई में नष्ट हो गया।

महाभारत में कहा है कि—

"दुःखादुद्विजते सर्वः सुखं सर्वस्य चेप्सितम्।"

अर्थात् दुःख से सब लोग भागते हैं एवं सुख को सब लोग चाहते हैं। हम भी इसी स्वाभाविक नियम का पालन करते हैं। इन सिद्धांतों से तो आपको प्रकट हो गया होगा कि संसार में आलस्य कितना महत्त्व रखता है। इसमें संसार की हानि ही क्या? मैंने अपने सिद्धांतों के अनुकूल जीवन व्यतीत करने के लिये कई मार्ग सोचे, किंतु अभाग्य-वश वह पूर्णतया सफल न हुए, इसमें मेरा दोष नहीं है। इसमें तो संसार ही का दोष है; क्योंकि वह इन सिद्धांतों के लिये अभी परिपक्व नहीं है। अस्तु, वर्तमान अवस्था में विना उद्योग के भी बहुत कुछ

सुख मिल सकता है। उद्योग करके सुख प्राप्त किया, तो वह किस काम का ? आलसी जीवन के लिये सबसे अच्छा स्थान तो सफ़ाख़ाने की चारपाई है। एक बार मेरा विचार हुआ था कि किसी बहाने से युद्धक्षेत्र में पहुँच जाऊँ तथा वहाँ पर थोड़ी बहुत चोट खाकर सफ़ाख़ाने के किसी ख़ाली पलँग में स्थान मिल जाय, किंतु लड़ाई के मैदान तक जाने का कष्ट कौन उठावे और बिना गए तो उन पलँगों का उपभोग करना इतना ही दुर्लभ है, जितना पापी के लिये स्वर्ग।

भाग्य-वश मुझे एक समय आपरेशन कराने की आवश्यकता पड़ गई, और थोड़े दिनों के लिये बिना युद्धक्षेत्र गए ही मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया ; किंतु पुण्य-क्षीण होने पर सफ़ाख़ाना छोड़ना पड़ा। मैं बहुत चाहता था कि मुझे जल्दी आराम न हो, किंतु डॉक्टर लोग माननेवाले जीव थोड़े ही हैं; अति शीघ्र आराम करके मुझे बिदा कर दिया, मानो मेरे आराम से स्पर्धा होती थी। तब से फिर ऐसे सुअवसर की बाट जोह रहा हूँ कि मुझे वही पलँग प्राप्त हो, जहाँ पर कि मल-मूत्र त्याग करने के लिये भी स्थान छोड़ने का कष्ट न उठाना पड़े। ख़ैर, अब भी जहाँ तक होता है, मैं शय्या की सेवा से अपने को विमुख नहीं रखता। मेरा सब कारबार, भोजन एवं कसरत भी उसी सुख-निधान पलँग पर हो जाती है। कभी-कभी नहाने-धोने के लिये उससे वियोग होता है, तो उसको एक आवश्यक बुराई समझकर जैसे-तैसे स्वीकार

कर लेता हूँ। धन्य हैं तिब्बत के लोग, जिन्हें नहाने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। ईश्वर ने न-जाने मेरा जन्म वहाँ क्यों नहीं दिया। तिब्बत का प्राचीन नाम त्रिविष्टप था। शायद इसी सुख के कारण वही वैकुंठ कहलाता है। वैकुंठ को लोग क्यों चाहते हैं, क्योंकि वहाँ आलस्य-धर्म का पूर्णतया पालन हो सकता है। वहाँ किसी बात का कष्ट ही नहीं उठाना पड़ता। कामधेनु और कल्पवृक्ष को ईश्वर ने हमारे ही निमित्त निर्माण किया है। आजकल कलियुग में और भी सुभीता हो गया है। अब स्वर्ग तक कष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं। कल्पवृक्ष बिजली के बटन के रूप में महीतल पर अवतरित हो गया है। बटन दबाइए, पंखा चलने लगेगा, झाड़ू भी लग जावेगी, यहाँ तक कि पका-पकाया भोजन भी तैयार होकर हाज़िर हो जावेगा। विना परिश्रम के चौथी-पाँचवीं मंज़िल पर लिफ़्ट द्वारा पहुँच जाते हैं। यह सब आलस्य की ही आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये संसार में उन्नति का क्रम चला है; और उन्नति में गौरव माननेवाले लोगों को हम आलसियों का अनुगृहीत होना चाहिए।

उपर्युक्त व्यवस्था से प्रकट हो गया कि आलस्य का इस संसार में इतना महत्त्व है। अब मैं आप महानुभावों के शिक्षार्थ एक आदर्श आलस्याचार्य का वर्णन कर अपने वक्तव्य को समाप्त करूँगा, क्योंकि मैं समझता हूँ कि आप लोगों की पीठें शय्या के लिये बहुत ही उत्सुक हो रही होंगी।

कहा जाता है कि एक बड़े भारी आलसी थे। वह जहाँ तक होता था, हाथ क्या, अपनी उँगली को भी कष्ट नहीं देना चाहते थे। उनके मित्र-वर्ग ने उनसे तंग आकर सोचा कि इनको जीवित ही क़ब्र की शांतिमयी निद्रा का सुख प्राप्त करा दें। इस इरादे से वह उनको चारपाई पर रख ले चले। रास्ते में एक धनाढ्य अमेरिकन-महिला मिली। उसने जब यह शव-सा जाता हुआ मनुष्य देखा, तो उसका कुतूहल बहुत बढ़ा और उसने शय्या-वाहकों से सब वृत्तांत पूछा। उस दयामयी स्त्री ने हमारे चरित्र-नायक से कहा कि आप मेरे यहाँ चलने की कृपा कीजिए। मैं आपको बिना कष्ट के ही भोजनादि से संतुष्ट करती रहूँगी। हमारे आलस्याचार्य ने पूछा कि आप मुझे भोजन में क्या-क्या देवेंगी? उस महिला ने बहुत से पदार्थों का नाम लिया, उनमें उबले हुए आलू भी थे। इस पर उन्होंने कहा कि आलुओं को छीलेगा कौन? लंच में कभी-कभी वे छिले ही आलू देते हैं) इस पर उस स्त्री को बहुत झुँझलाहट आई। हमारे आलस्याचार्य ने कहा कि मैं तो पहले ही से जानता था कि आप मेरी सहायता न कर सकेंगी और आपने वृथा मेरा समय नष्ट किया, नहीं तो मैं अभी तक आर्य्यन आनंद-भवन में प्रवेश कर चुका होता। इतना कहकर उन्होंने शय्या-वाहकों को आगे चलने की आज्ञा दी।

इस आदर्श को मूर्खता न समझिए। वेदांत का मोक्ष और

बौद्ध-निर्वाण इससे भिन्न नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि इस प्रकार के जीवन को दार्शनिक रूप नहीं दिया गया है। इसलिये आप लोग जो इस सभा के सदस्य हैं, मेरे सिद्धांतों से सहमत हो निम्न-लिखित प्रस्तावों को स्वीकार करें—

(१) यह सभा प्रस्ताव करती है कि भारत-सरकार के क़ानून-विभाग से यह प्रार्थना की जावे कि ताज़ीरात-हिंद में एक धारा बढ़ाकर दिन-रात में दस घंटों से कम सोना दंड-नीय बनाया जावे, क्योंकि कम सोनेवाला मनुष्य आत्म-हत्या का दोषी होता है।

(२) यह सभा प्रस्ताव करती है कि जो लोग ताश खेलना नहीं जानते हैं अथवा जो लोग तंबाकू न पीते हों, उन लोगों पर आमदनी के ५) रुपया प्रतिशत के हिसाब से कर लगाने की प्रार्थना की जावे। इससे सरकार की आमदनी बढ़ेगी। इसके सिवा लोगों को ठलुआ-पंथी से अरुचि न होगी।

(३) यह सभा प्रस्ताव करती है कि जो लोग इस सभा में रुपया-पैसा कमाने या और कोई उपयोगी बात जिसकी क़ीमत आने-पाइयों में हो सकती है, कहेंगे, वे इस सभा से बहिष्कृत कर दिए जावेंगे।

(४) यह सभा प्रस्ताव करती है कि अमेरिका और इँगलैंड के मोटर-कंपनियों से निवेदन किया जावे कि भविष्य में जो मोटरें बनवाई जावें, वे ऐसी हों कि उनमें पैर पसारकर लेटे

हुए सफ़र कर सकें। इसके अतिरिक्त ऐसी छोटी-छोटी मोटर-मशीनें तैयार करवाई जावें कि वे हमारी चारपाइयों में लगाई जा सकें और बटन दबाने से हमारी चारपाई एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सके। पहले लोगों की कल्पना-शक्ति अच्छी थी। वे वायुयान को उड़नखटोला कहते थे। खटिया नहीं, तो खटोला अवश्य ही था। उड़नखटोला के स्थान में मोटर-पलँगों की आयोजना संसार की उन्नति के लिये परमावश्यक है।

(५) यह सभा प्रस्ताव करती है कि सरकार से यह प्रार्थना की जावे कि संसार में सबसे बड़े शांति-स्थापनकर्ता को जो नोबिलप्राइज़ मिलती है, वह सबसे बड़े आलसी को दिया जावे; क्योंकि आलसियों के बराबर संसार में दूसरा कोई भी शांति-स्थापनकर्ता हो ही नहीं सकता। यदि वह इनाम काम करनेवाले शक्तिशाली पुरुष को दिया जावेगा, तो वह क़ैसर की भाँति संसार में युद्ध की ज्वाला को प्रचंड कर पुरस्कार-दाता की आत्मा को दुःख देगा।

आप लोगों का अधिक समय न लेकर मैं अपने भाषण को आलसियों के शांति-संगीत से समाप्त करूँगा। यह गायन हम लोग अपनी चारपाइयों पर गाया करते हैं। यही हमारा जातीय गीत है।

सुख-सेवक नर हैं हम हम हम।
दुख से भय करते हम हम हम।

कभी कष्ट नहिं आवे हम पर, शयन करें नित मौजी बनकर।
नाम काम का लेयँ न छन-भर, भोजन डटें सदा ही मन-भर।
गप्पों में जाते रम रम रम।

आग लगी भी हो झर झर झर, माल रहा हो जल फर फर फर;
लोग उठाते हों सर सर सर, तो भी हम सोवें घर घर घर।
कभी न करते हैं श्रम श्रम श्रम।

काम स्वप्न में भी सुन पावें, तो हम चुपके कान दबावें;
नहीं भूलकर हाथ चलावें, चाहे भूखों भी मर जावें।
रहें डटे ही हम जम जम जम।

कैसा भी अपमान सहें हम, तब भी पूरन शांत रहें हम;
नहीं कभी निज कष्ट कहें हम, बस खटिया की शरण गहें हम।
दुनिया है सारी भ्रम भ्रम भ्रम;
सुख-सेवक नर हैं हम हम हम।

ठलुआ-क्लब की नवीं बैठक

आफ़त का मारा दार्शनिक

आफ़त का मारा दार्शनिक

श्रद्धेय सभापति महोदय एवं प्रिय ठलुआ-वृंद,

मुझे आप लोगों की सभा के सदस्य होने का एक नैसर्गिक अधिकार है। दार्शनिकों का काम सोच-विचार का है और सोच-विचार के लिये ठलुआ-पंथी से बढ़कर कोई उपजाऊ भूमि नहीं।

इस नैसर्गिक अधिकार के अतिरिक्त मैंने अपने सुकार्यों द्वारा, जिनको कि मैं आपके सम्मुख प्रकट करने के लिये उपस्थित हुआ हूँ, अपने को ऐसा बना लिया है कि इस क्लब से मैं बाहर हो ही नहीं सकता।

यद्यपि मुझको ब्रिटिश-बार्न होने का गौरव प्राप्त है, तथापि मैं अपना मरण भारतवर्ष में ही चाहता हूँ; क्योंकि यहाँ के अनेक नगर ऐसे हैं, जहाँ मरने से इस लोक में गौरव और परलोक में स्वर्ग प्राप्त होता है।

जन्म का गौरव तो मुझे सहज ही प्राप्त था। और मरण का गौरव मैंने आपके क्लब की मेंबरी कर अपने लिये पक्का कर लिया है। इसलिये मैं अब यहाँ से बाहर नहीं जाता।

गत योरप के महासंग्राम से पूर्व मैं इँगलिस्तान के एक बड़े विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र का प्रोफ़ेसर था। संग्राम के शुरू होते ही साम्राज्य-रक्षा की लहर मेरे मन में उठी और मैं टेरीटोरियल फ़ोर्स में भर्ती होकर भारतवर्ष आया।

एक वर्ष टेरीटोरियल्स सेना भारतवर्ष में ही रही। इस समय में मैंने आगरा, इलाहाबाद, बनारस आदि सब विद्या-केंद्रों में भ्रमण किया और मुझे अनेक दार्शनिक विद्वानों से मिलने तथा दार्शनिक सभाओं में वाद-विवाद सुनने का अवसर मिला। दर्शन-शास्त्र में भारतवासियों की गति देखकर आश्चर्य हुआ। आश्चर्य की कोई बात न थी; क्योंकि यहाँ पर निर्धनता के होते हुए भी जीवन-संग्राम इतना घोर नहीं है, जितना कि अन्य देशों में। मैंने भी सोचा, मैं यदि न मरा, तो समझ लूँगा कि भारतवर्ष में मरने के लिये बच गया हूँ और फिर शेष जीवन बनारस में ही बिताऊँगा, तथा 'चना-चबेना और गंग-जल' पर निर्भर रहकर विश्वनाथ-दरबार में पड़ा-पड़ा जीव, ईश्वर और संसार की समस्याओं के हल करने का भार अपने सिर पर ले लूँगा। आखिर हम लोगों का भी नंबर फ़्रांस के रणक्षेत्र में जाने का आ पहुँचा। कई दिनों के बाद एक बड़े हमले में सम्मिलित होने की नौबत आई। सब प्रकार

युद्ध-सम्बन्धी शिक्षा-दीक्षा मिलने पर भी दार्शनिक संस्कारों का अंकुर नष्ट नहीं हुआ था। मृत्यु दार्शनिक विचारों की उत्तेजक समझी गई है। रणांगण में, जहाँ कि चारों ओर मृत्यु का ही सामना है, दार्शनिक विचारों की लहर उठते क्या देर लगती है। मैं तो स्वभाव से ही दार्शनिक था, फिर भारतवर्ष में रहकर वहाँ अर्जुन और कृष्ण के संवाद की कथा सुन और समझ भी चुका था; फिर क्या है "करेला और नीम चढ़ा" की लोकोक्ति चरितार्थ हो गई। मुझे भी अर्जुन का-सा मोह उठ खड़ा हुआ।

दुर्भाग्य से मेरे पास जो एक और लेफ्टीनेंट थे, वह भी पूरे दार्शनिक तो न थे, किंतु दार्शनिक विषयों में थोड़ी बहुत टाँग अड़ा सकते थे और कुछ नहीं, तो दार्शनिक बनने की इच्छा ही रखते थे। अब तो दो दीवाने मिल गए। प्रश्न उठा कि यदि सामने की फौज में जर्मनी की ओर से आइकिन (Oecken) नाम का जर्मन दार्शनिक आया हो, तो उस पर गोली चलाना धर्म होगा या पाप? आइकिन दार्शनिक है, तो क्या उसके वध से संसार के भावी ज्ञानक्षेत्र को संकुचित करने का अपराध हम पर न लगेगा? "ज्ञान-साम्राज्य" के बन्धन को माना जाय, या "ब्रिटिश-साम्राज्य" के बन्धन को? पिछला बन्धन निकटतर है; किंतु उसी के साथ पहला बन्धन विश्व-व्यापी और चिर-स्थायी है। मनुष्य-समाज और भावी दार्शनिक इतिहास के सामने जातीय इतिहास का विचार एक संकुचित ध्येय है।

यदि ऐसा ही था, तो इस युद्धस्थल तक आए ही क्यों ? यदि न आता, तो यह समझा जाता कि देश की रक्षा से अपनी रक्षा को मैं प्रधानता देता हूँ और देश के लिये बुरा नमूना समझा जाता। मेरे मित्र ने कहा कि इस कार्य को अच्छा समझा, तभी तो आए। नहीं, ठीक ऐसा तो नहीं है। कुछ जेल जाने के भय से भी चला आया। तो अब यह विचार क्यों ? खैर, एक बार ग़लती हो गई, तो दो बार ग़लती करना आवश्यक नहीं। दो "नहीं" की एक "हाँ" हो जाती है, लेकिन दो "गलतियों" की एक "सही" नहीं होती। चढ़ाई में आने से पूर्व आइकिन का ख़याल नहीं आया था। यह तो नई स्थिति है, इसके अनुकूल विचार करना चाहिए। इस स्थिति के सम्बन्ध में पहला विचार तो यह है—"क्या वह इँगलिश जाति का हनन करने के लिये स्वयं अपनी इच्छा से इस संग्राम में सम्मिलित हुआ ; या अपने राज्य के दबाव से ? यदि वह स्वयं आया है, तो अवश्य वध के योग्य है और यदि मजबूरन् आया है, तो उसके मारने का पाप होगा। लेकिन यदि स्वयं अपनी इच्छा से आया, तो उसने अपने देश की सहायता करने को धर्म समझा और धर्म करनेवाले मनुष्य को मारना पाप है। किंतु हम भी अपनी जाति की रक्षा के लिये यहाँ उपस्थित हैं और इस धर्म-कार्य को करते हुए कोई पाप हो जाय, तो क्षम्य है। यदि यह सब भी मान लें कि वह इच्छा से यहाँ आया और इस कारण वध के योग्य है, किंतु जिस समय देशवाले संग्राम

में सम्मिलित होने की अपील करते हैं, उस समय क्या मनुष्य की बुद्धि ठिकाने रहती है ? भावोत्तेजन होने पर बुद्धि का ह्रास हो जाता है। मनुष्य मनुष्य नहीं रहता। क्या ऐसी अवस्था में आए हुए मनुष्य को अपने कार्य का उत्तरदायी ठहरा सकते हैं और जो अपने कार्य का उत्तरदायी नहीं, उसका वध करना कहाँ तक उचित है ? इसके साथ यह भी विचार करना चाहिए कि जो लड़ाई में आता है, वह अपने व्यक्तित्व को छोड़ राज्य के व्यक्तित्व में शामिल हो जाता है। मेरी विचार-शृंखला कुछ धीरे कुछ ज़ोर से चली ही थी। कभी-कभी मेरे मित्र की हाँ-ना अथवा एक-आधे छोटे प्रश्न से भंग हो जाती थी, किंतु इस स्थान में सामने से एक गोली ने आकर बड़ी भारी "ना" कर दी। गोली मेरी बाँह में ही लगी थी। मैं मूर्च्छागत हो गया। जागा तो मैंने अपने को एक अस्पताल में पाया। वहाँ दो-एक दिन की सेवा-शुश्रूषा के पश्चात् जब स्थिति का पूर्ण पता लगा, तो लोगों से मैंने अपने मित्र के विषय में पूछा। मुझे बड़े खेद के साथ सुनना पड़ा कि उनके भी गोली लगी थी, किंतु उनकी वहीं पर मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु का भार एक प्रकार से मेरे सिर पर ही रहा और सोते-जागते उनका चित्र मेरे सामने रहने लगा। इस बात ने मेरे शीघ्र अच्छे होने में बहुत बाधा डाली। फिर मैं विलायत भेज दिया गया। वहाँ एक मनोविश्लेषण-शास्त्री ((Psycho-analysist) ने मेरी मानसिक चिकित्सा की। उससे मेरा दुःस्वप्न नष्ट हुआ। मेरी बाँह

तो बेकाम हो गई, लेकिन वैसे मैं स्वस्थ हो गया। लड़ाई के बाद टैक्सों के कारण विलायत का जीवन बहुत महँगा हो गया था। भारतवर्ष में शेष जीवन बिताने का संकल्प कर ही चुका था; किंतु मेरे पास भारतवर्ष आने के साधन न थे। इतने ही में एक ईसाई-कालेज में दार्शनिक की माँग हुई। दर्शन-शास्त्र के संबंध में जो कुछ मैं पहले काम कर चुका था, वह कालेज में मेरी स्वीकृति के लिये पर्याप्त था। भारतवर्ष आया, कालेज में पढ़ाना शुरू किया; किंतु मैं यहाँ की पाठन-पद्धति से परिचित न था। परिचित हुआ, तो वह मेरे विचारों के अनुकूल न पड़ा। सुक़राती पद्धति से ज्ञान उत्पन्न करना मेरा लक्ष्य था। यहाँ लोग पुस्तकों के दास बनकर परीक्षोत्तीर्ण होना अपना परम श्रेय समझते थे। साल-भर में एक किताब भी ख़तम न हुई। लड़के धड़ाधड़ फ़ेल हुए। मेरी शिकायतें हुईं, प्रिंसिपल ने कहा-सुना, वह मुझ-ऐसे पंडित को असह्य हुआ। नौकरी छोड़ काशी चला आया हूँ। कभी-कभी विश्वविद्यालय में लेक्चर दे आता हूँ और दिन-भर आपके ठलुआ-क्लब में अपना समय बिताता हूँ। यहाँ के श्लाघनीय अवकाश में दार्शनिक विचारों की धारा दिवस-निशि अकुंठित गति से बहती रहती है। इस-लिये मैं आप लोगों का हृदय से आभारी हूँ, और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि इस ठलुआ-क्लब के मेंबरों की संख्या दिन दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती रहे। आमीन!